प्रकाशक,
प्रधान मत्री,
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी ।

प्रथम सस्करण—१०००
मूल्य—२)

मुद्रक,
श्री अपूर्वकृष्ण व
इडियन प्रेस, लिमिटे
बनारस-ब्राच ।

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

—मेघदूत २-४६ ।

[सुख-दुःख किसी के भी सदा एक से नहीं रहते । परिवर्त्तन विश्व का नियम है । रथ के पहिए की तरह ससार की दशा ऊपर-नीचे घूमती रहती है ।]

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुशी देवीप्रसाद जी मुसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बडे ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने मे ही लगाते थे। हिंदी मे उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रथ लिखे है जिनका हिंदी-संसार ने अच्छा आदर किया है।

श्रीयुत मुशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी मे ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रु० अकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बबई बक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवी-प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेसी बकों के साथ सम्मिलित होकर इपीरियल बक के रूप मे परिणत हो गया, तब सभा ने बबई बंक के हिस्सों के बदले मे इपीरियल बक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होनेवाली तथा स्वय अपनी पुस्तकों की बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुशी देवीप्रसाद का वह दानपत्र काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के २६वे वार्षिक विवरण मे प्रकाशित हुआ है।

———

अपने विषय में

दीपावली के दिन सिंध में,

रात्रि की नीरव निश्चलता में वायु के विशाल सागर को चीरती हुई गाडी अचानक डोकी स्टेशन पर खडी हुई। इधर उधर खलबली मची। यात्री जल्दी जल्दी सामान उतरवा रहे थे।

स्टेशन से बाहर आकर कुली ने पूछा—'हजूर कहाँ जाना है।' मैंने कहा—'मोहे जो दड़ो'*।

एक कौतूहल-पूर्ण हास्य की रेखा कुली के मुख-मंडल पर दौड गई।

कुछ क्षण चुप रहने के बाद वह बोल उठा—हजूर, आज दीवाली का दिन है। इस खुशी के दिन लोग शहरों को रोशनी देखने जाते हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि आज आप एक उजाड शहर देखने क्यो जा रहे हैं।

---

* साधारणत यही नाम प्रचलित है। पर मोढेरा (उत्तर गुजरात) से ठा० खेतसिंह नारायण जी मिश्रण लिखते हैं—"सिंधी भाषा मे इसका शुद्ध नाम 'मुहे जो डेरो' (=मरे हुओं का टीला) है"। यह सूचना पुस्तक छप जाने पर प्राप्त हुई।

—प्रकाशक

अचंभे मे आकर मैने गरीबी से झुलसे उस कुली के शरीर को सिर से पैर तक देखा। यह घटना आज से ठीक पॉच वर्ष पूर्व की है।

× × × ×

इस घटना का मुझपर बडा प्रभाव पडा। उस दिन तक मै भारत के एक बड़े समाज की अज्ञानता के विषय मे सोचता भर था; किंतु वह दिन उन कहानियो को प्रत्यक्ष रूप मे भी ले आया। मैने उसी समय यह संकल्प किया कि पुरातत्त्वविषयक कुछ पुस्तकें हिंदी भाषा मे लिखूँगा। तब से इन पॉच वर्षों मे संसार ने अनेक दिशाओ मे अपनी काया पलटी है और मै भी संसार की क्रीड़ास्थली का एक तुच्छ जीव होकर इन परिवर्त्तनो से अछूता नही रहा हूँ। लगभग तीन वर्षों तक मै भारत के विभिन्न प्रांतो मे संग्रहालय-रक्षण, पुरातत्त्व तथा कला की शिक्षा प्राप्त करता रहा। इस अव्यवस्थित जीवन से मेरे पुस्तक-लेखन के कार्य में बडी बाधा पड़ी। अन्य व्यक्तिगत बाधाओं ने भी मुझसे बदला चुकाने का यही एक उपयुक्त अवसर समझा। किंतु आज की परिस्थिति-विशेष मे भूत की प्रतिकूल घटनाएँ भी मुझे अनुकूल जान पड़ रही हैं। इस बीच पर्याप्त अवकाश पाकर एक लाभ तो मुझे यह हुआ कि मै सिंधु-सभ्यता के अवशेषो का ध्यानपूर्वक एवं प्रत्यक्ष अध्ययन कर सका। इसके अतिरिक्त इस बीच मुझे इतिहास के अनेक विद्वानों से भेंट करने तथा उनकी कृतियो को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ जिससे मेरे इतिहास-ज्ञान को नवीन चेतना प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक के लिखने मे मैंने पाडित्य की कृत्रिम ममता तथा लोभ से दूर रहने का प्रयत्न किया है। प्रात स्मरणीय पितामह भीष्म के शब्द "एको.लोभो महाग्राहो लोभात्पाप प्रवर्तते" मुझे प्रतिक्षण सावधान करते रहे हैं, तथापि स्वाभाविक मनुष्य-प्रवृत्ति के कारण मुझे अपनी धारणाओ को प्रकट करने मे सकोच नहीं हुआ है। कह नही सकता कि मेरा इस दुरूह विषय का विश्लेषण विद्वानों को कहाँ तक मान्य होगा। इधर हिंदी-साहित्य मे विशुद्ध पुरातत्त्वविषयक एक भी पुस्तक नही है और इसी भारी कमी को पूर्ण करने का एक सकेत इस पुस्तक के रूप मे अवतरित हुआ है। पुस्तक की अधिकतर सामग्री मैंने सर जॉन मार्शल, डा० मैके, श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, (स्व०) श्री ननीगोपाल मजूमदार तथा श्री माधवस्वरूप वत्स की पुस्तकों से ली है। इसके अतिरिक्त मैंने आज तक प्रकाशित सिंधु-सभ्यता सबधी अनेक लेखों का अध्ययन करके इस पुस्तक मे विद्वान् लेखको की धारणाओं का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। यह सत्य है कि इनमे कई धारणाएँ विवादग्रस्त हैं और उनपर विद्वानो मे मतभेद हैं। किंतु एक इतिहासज्ञ को प्रत्येक शोधक की धारणाओं का आदर करते हुए उनका गभीर रूप से विवेचन करना चाहिए। हम सभी प्राणी ईश्वर की इस सृष्टि मे विभिन्न सूझ, समझ तथा मस्तिष्क लिए उद्भूत होते हैं। अतएव अकारण ही हमे शोधको की धारणाओ को महत्त्व-शून्य तथा उपेक्षणीय घोषित नही करना चाहिए।

इतिहास मे हमे सत्य को विशेष स्थान देना चाहिए। इतिहासज्ञ का सत्यभाषी होना नितात आवश्यक है। आधुनिक काल मे राष्ट्रीय

भावनाओ से प्रेरित होकर इतिहास लिखनेवालों की एक धारा सी उमड़ पडी है। देश मे वीरपूजा की रूढिगत प्रवृत्ति के कारण समाज पर उनका प्रभाव भी स्थिर हो रहा है। किंतु इससे देश के इतिहास का बड़ा अहित हुआ है। ऐसे लेखको का हमे सहर्ष स्वागत करना चाहिए, परतु तभी जब कि वे देश-प्रेम के आवेश में आकर सत्य की अवहेलना न करे। इतिहासज्ञ अपने वर्णन की यथार्थता के द्वारा ही किसी युग, किसी सभ्यता अथवा किसी संस्कृति का सम्यक् दिग्दर्शन करा सकता है। पुरातत्त्व ने तो आज हमारे लिये इतिहास की शृंखलाओं को जोड़ने की सुंदर सामग्री प्रस्तुत कर दी है। अत इस बात की पूर्ण आशा की जा सकती है कि जागरण तथा विश्व-क्राति के इस युग मे भारतीय इतिहासज्ञ पुरातत्त्व का आश्रय लेकर भारतीय इतिहास के नव-निर्माण मे सहायक होगे।

अभी तक भारत के प्रागैतिहासिक युग पर विशेष अनुसधान नही किए गए हैं। कुछ भूगर्भशास्त्रियो का ध्यान अवश्य इस ओर आकर्षित हुआ है, किंतु उनका ध्येय इतिहास-निर्माण नहीं है। यह निर्विवाद है कि भारत में प्रागैतिहासिक युग की प्रचुर सामग्री है। क्या यह आशा करना अनुचित होगा कि निकट भविष्य मे हमारे देश की कोई सस्था या इतिहासज्ञ इस विशेष विषय पर अनुसंधान कर भारत के प्रागैति-हासिक युग की सभ्यता पर प्रकाश डालेगे?

इस पुस्तक के अनेक स्थलो पर मैने तुलनात्मक दृष्टिकोण का आश्रय लिया है और साथ ही अनेक लौकिक एव धार्मिक पद्धतियो का उद्गम बतलाने का भी प्रयत्न किया है। फिर ऐतिहासिक काल मे

इन परपराओं का क्या स्वरूप था और आज क्या रह गया है, इस प्रश्न पर भी प्रकाश डालने की मैंने चेष्टा की है। वैदिक सभ्यता का उल्लेख तो सभवतः आवश्यकता से अधिक हो गया है। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वैदिक तथा सिंधु-प्रात की सभ्यताएँ एक सी थीं। अनेक विद्वानों का पदानुसरण करते हुए मैं भी सिंधु-सभ्यता को अनार्य सभ्यता मानता हूँ। किंतु यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि इन दोनों सभ्यताओं में कई बातों मे समानता भी है। ऋग्वेद प्राचीन आर्य महर्षियो के ज्ञान तथा कई युगों की विशिष्ट सभ्यताओं एव सस्कृतियों का अक्षय भंडार है और अनेक परपराओं का मूल जानने के लिये इस ग्रथ की शरण लेना परम आवश्यक है।

इतिहास-निर्माण की सामग्री हमे केवल शुष्क तथा रक्तहीन हड्डियो और नसो के रूप में प्राप्त होती है। इसमे न तो मनुष्य की कल्पना और न किसी प्रकार का शब्दजाल ही सहायक हो सकता है। इस कठिनाई के कारण कदाचित् कुछ पाठकों को यह पुस्तक रूखी जान पडे। फिर मुझे अनेक अँगरेजी शब्दों के उचित हिंदी नाम भी प्राप्त नही हो सके हैं। अनेक शब्दो के लिये मुझे स्वय एक भाषाविद् का चोला पहिनना पड़ा है। मै कह नहीं सकता कि मुझे अपने प्रयास मे कहाँ तक सफलता मिली है, किंतु मैं अपने प्रेमी पाठको के सम्मुख महाकवि तुलसीदासजी के इन शब्दो को ही रख कर सतोष कर लेता हूँ—

"समुझि विविध विधि विनती मोरी, कोउ न कथा सुनि देइ हि खोरी।"

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर-जनरल रावबहादुर श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित, एम० ए०, एफ० आर० ए० एस० बी० ने इस पुस्तक के लिये पचीस ब्लाक तथा कुछ चित्रो के ब्लाक बनाने की अनुमति देने की कृपा की है। समय समय पर आपने मुझे इस पुस्तक के सबध मे अनेक सलाहें भी दी हैं। आपकी इन असीम कृपाओ के लिये मै हृदय से आपका ऋणी हूँ।

खेद है कि कतिपय कारणा से चित्र स० २०,२१ तथा २२ के ब्लाक नही बन सके हैं।

इस पुस्तक की रूप-रेखा प्रस्तुत करने मे मेरे मित्र, प्रातीय संग्रहालय, लखनऊ के विद्वान् अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल्-एल० बी० तथा मेरे अभिन्नहृदय श्री श्यामाचरण काला, एम० ए० ने बड़ी सहायता की है। मै आप लोगो का आभारी हूँ।

जियोलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया के डाइरेक्टर महोदय ने मुझे अनेक बहुमूल्य तथा अल्पमूल्य पत्थरो के नाम बतलाने की कृपा की है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र है।

इस पुस्तक की अधिकतर सामग्री मैने सेंट्रल आरकियोलॉजिकल लायब्रेरी, नई दिल्ली ; इडियन म्यूजियम आरकियोलॉजिकल सेक्शन लायब्रेरी, कलकत्ता , इपीरियल लायब्रेरी, कलकत्ता ; प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम लायब्रेरी, बबई ; पब्लिक लायब्रेरी, इलाहाबाद तथा बनारस हिंदू युनिवर्सिटी लायब्रेरी से सचय की है। मुझे इन सब पुस्तकालयो

के अध्यक्षो ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं, जिसके लिये मै उनका कृतज्ञ हूँ।

मेरे गुरु डा० रमाशकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी०-एच० डी० (लदन) ने इस पुस्तक के कुछ अध्यायों को देखने की कृपा की है। मै आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने इस पुस्तक का प्रकाशन भार लेकर हिंदी साहित्य के एक बडे अभाव को पूरा किया है। सिंधु-सभ्यता संबधी जो थोडी पुस्तके हैं भी वे एक तो अँगरेजी भाषा मे हैं और दूसरे उनका मूल्य भी बहुत अधिक है। सभा ने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा इन कठिनाइयो को दूर कर दिया है। इस कार्य के लिये सभा के अधिकारीगण तथा भारत कलाभवन के प्राण श्री राय कृष्णदास मेरे धन्यवाद के पात्र है।

अत मे मै इतिहास के उन उद्भट विद्वानो के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनसे मिलकर तथा जिनके लेखो को पढकर मेरा इतिहास-ज्ञान अनेक दिशाओ मे आलोकित हुआ है।

तीन वर्ष के अविश्रात जीवन के पश्चात् एक बार फिर विद्यार्थी-जीवन की ओर लौटना मेरे जीवन की एक असाधारण घटना है। कदाचित् भगवान् बुद्ध का स्नेहमय आदेश था कि मै त्रिधर्म तथा सस्कृति की इस अनुपम त्रिवेणी श्री पुण्या वाराणसी मे आकर अपने जीवन की अंतिम शिक्षा ग्रहण करूँ। इस नवीन परिस्थिति मे पहुँचकर मुझे इतना पर्याप्त अवकाश नही मिला कि मै इस पुस्तक मे आवश्यक सशोधन आदि कर सकूँ। किंतु मै प्रेमी पाठको

को विश्वास दिलाता हूँ कि अपने गुरुजनो से प्राप्त विमल शिक्षा के प्रकाश मे मै इस पुस्तक को द्वितीय सस्करण मे पूर्ण बनाने का यथाशक्ति यत्न करूँगा ।

यदि इस पुस्तक के पन्नों पर दृष्टिपात करने से भारत के थोड़े से भी व्यक्ति प्राचीन भारतीय संस्कृति की आत्मा तथा वास्तविक मूल को पहिचानने मे समर्थ हो सकें तो मै अपने श्रम को सार्थक समझूँगा ।

चितरजन एवेन्यू,
साउथ, कलकत्ता
दीपावली, स० १९९७.

सतीशचन्द्र काला

निर्देश

(१) सर जॉन मार्शल (सपादक)—

मोहे जो दडो ऐड इडस सिविलाइजेशन, ३ जिल्द–मो० इ० स० ।

(२) डा० अ० मैके—

फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहें जो दड़ो, ३ जिल्द—फ० य० मो० ।

(३) श्री माधवस्वरूप वत्स—

एक्सकैवेशस ऐट हडप्पा, २ जिल्द—य० ह० ।

(४) श्री काशीनाथ दीक्षित—

प्रिहिस्टॉरिक सिविलाइजेशन ऑव दि इडस वैली–प्री० सि० इ० वे० ।

(५) डा० अ० मैके—

दि इडस सिविलाइजेशन—इ० सि० ।

(६) रैप्सन (संपादक)—

कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया, जिल्द १ – कै० हि० इ० ।

रिपोर्ट, जर्नल आदि

(७) मेमॉयर्स ऑव् दि आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑव इडिया—आ० स० मे० ।

(८) आरकियोलॉजिकल सर्वे ऑव इ डिया, ऐनुअल रिपोर्ट—आ० स० रि० ।

(९) इडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (कलकत्ता)—इं० हि० क्वा० ।

(१०) जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसाइटी—ज० रा० ए० सो० ।

(११) जर्नल रॉयल ऐंथ्रॉपॉलॉजिकल सोसाइटी (बंबई)–ज०रॉ०ऐं०सो०

(१२) ,, ,, ,, इंस्टीट्यूट—ज० रॉ० ऐ० इं०।

(१३) ऐनुअल बिबलियोग्रैफी ऑव इंडियन आर्कियोलॉजी (कर्न इन्स्टीट्यूट) ऐ० बि० इ० आ०।

(१४) जर्नल इंडिया सोसाइटी ऑव ओरियंटल आर्ट—ज० इ० सो० ओ० आ०।

(१५) जर्नल यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी—ज० यू० पी० हि० सो०।

(१६) जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल—ज० ए० सो० बं०।

———

विषय-सूची

चित्र-सूची

---

* पृ० १४८ पर चित्र स० २ के बदले ३ छप गई है। कृपया पाठक सुधार कर पढ़ ले ।

——

लेखक की शीघ्र प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें—

१—भारत की प्राचीनतम मूर्त्तिकला।

२—आधुनिक भारतीय चित्रकला में प्रयोग की भावना।

३—नेचर इन आर्ट (अँगरेजी मे)।

स्वर्गीया

राजू दीदी को—

सिंधु प्रांत का मानचित्र
प्रागैतिहासिक स्थान
माप
मील
मोहे जो दड़ो
लोहूम जो दड़ो
पडीवाही
अलीमुराद
सिंधुनद
जैसलमेर
कोहतास
बरन नद
औरंगी
सागर
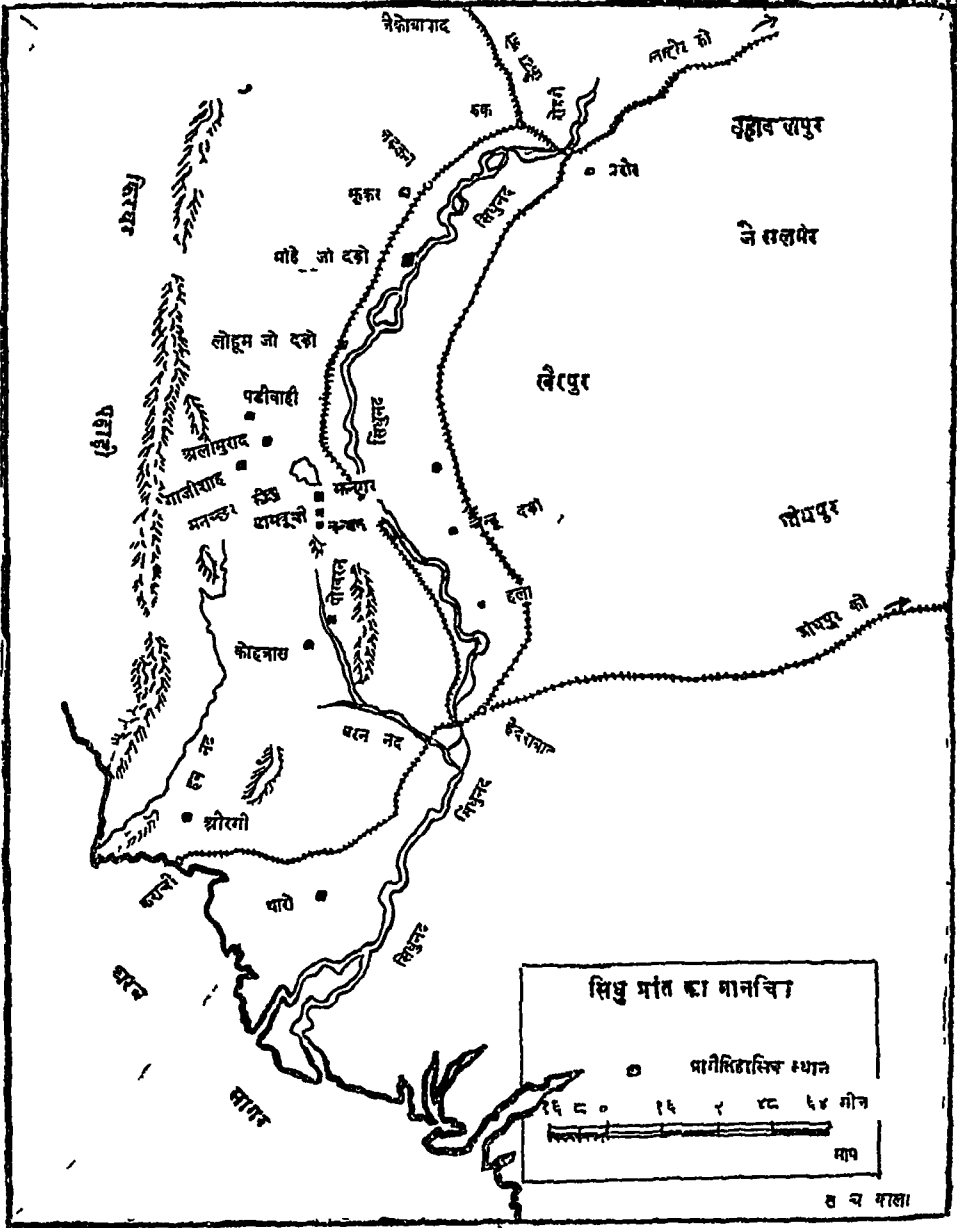
मोहें जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता

प्रथम अध्याय

सिंधु प्रांत

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकताएँ आविष्कारों की उत्पादिका होती है। इसी परम सत्य के अनुसार मनुष्य की गवेषणात्मक प्रवृत्ति कर्मण्य होती है और वह एक अपूर्व उत्सुकता से अभिभूत हो जाता है। अंतरात्मा मे प्रश्न उठते है—ससार मे जो पहले था, वही अब भी है, या अब परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है? यदि परिवर्तन हुआ तो किन परिस्थितियो मे और कैसे तथा कब? क्या मनुष्य की ही तरह सब वस्तुएँ आयुक्रम के अधीन हैं? इत्यादि। यही जिज्ञासाएँ किंवदतियो और दंतकथाओं की ओर मनुष्य के ध्यान को आकृष्ट करती हैं। इनके विश्लेषण की ओर वह प्रवृत्त हो जाता है।

हम आज सभ्यता की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं। इस सीढ़ी पर पहुँचकर हम पीछे देखने के लिये उत्सुक हो रहे है। हमे ध्यान

हो आता है अपने वैदिककालीन आर्य्यों का, उपनिषद्, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत और पुराण निर्माणकर्त्ताओं का और तद्गत महापुरुषों का तथा आज अविश्वसनीय सभ्यता के अंगों का। हम आश्चर्य्य करते है राम ने समुद्र मे कैसे पुल बाँधा होगा ? पुष्पक-विमान क्या वस्तु रही होगी ? महाभारत के युद्ध मे अठारह अक्षौहिणी सेना और उसके योद्धाओं ने कैसे वे सब विचित्र कौशल दिखलाए होगे। योरप के वैज्ञानिक आविष्कारों से प्रभावित होकर हम सोचने लगते है क्या हमारे यहाँ भी ऐसे मनीषी हुए हैं ? हम पढ़ते हैं, संसार की समस्त ज्ञानराशि मनुष्य की मस्तिष्क-कक्षाओं में चेतन और अर्धचेतन अवस्थाओं में रहती है। विचार आता है—प्राचीन काल मे भी तो रही होगी। यही विचार एक से एक शृंखला-बद्ध होकर हमको इतिहास के आदि-काल तक ले जाते है। लेकिन हमारी तत्त्वान्वेषण-प्रवृत्ति इतिहास की दीवारों को भेदकर 'उस पार' झाँकने के लिये उत्सुक हो उठती है और परिणाम-स्वरूप हमारा ध्यान पुरातत्त्व विभाग पर जाता है जो अपने कार्य्यों से संसार के ज्ञान-भांडार को भर रहा है।

खोज और अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक संस्कृति की आयु होती है—उसकी बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्था होती है। हमारी आज की सस्कृति एव सभ्यता का भी कोई न कोई स्वरूप तथा आधार रहा होगा।

संस्कृति के तत्त्वान्वेषण के लिये आज की वैज्ञानिक सुविधाओं ने मार्ग सरल कर दिया है। भूगर्भ-विद्या के प्राप्त ज्ञान के आधार पर पृथ्वी के पर्त्तों को उखाड़कर प्राचीन संस्कृति को प्रकाश मे लाया जा रहा है। यन्त्रों की सहायता से खोदी हुई वस्तुओं की आयु नापी जा रही है और इन सब साधनों से ५००० वर्ष पहले तक के मनुष्यों के रहन-सहन और साधारण संस्कृति का अंदाजा लगाया जा सका है।

अँगरेजी साम्राज्य स्थापित होने पर लोगों में भारतीय इतिहास को जानने की प्रबल इच्छा हुई। अठारहवीं सदी के अंत मे भारतीय इतिहास के भग्नावशेषों की खोज जनरल सर अलेकजेंडर कनिंघम ने की। उन्होंने हुयेनसांग के भ्रमण-ग्रंथों की शरण ली और बहुत से प्राचीन स्थान ढूँढ़ निकाले। उनकी खोजे महत्त्वपूर्ण तो हैं किंतु नवीन प्रकाश पड़ने पर आज उनकी अनेक धारणाओं का खंडन होता जा रहा है।

सन् १९०० ई० मे भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड कर्जन ने एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल की एक सभा मे भाषण देते हुए कहा था—

"असीरिया, मिस्र तथा योरप के कुछ भग्नावशेषों के साथ तुलना करने पर अधिकतर भारतीय भग्नावशेष अधिक प्राचीन नहीं ठहरते। यह हो सकता है कि मेरी धारणा संदेहजनक हो, किंतु मेरा विचार है कि भारत का प्राचीनतम स्मारक भिन्न-

भिन्न प्रकार की कला तथा शिल्प से सुसज्जित साँची का स्तूप है, जिसकी वेदिका का निर्माण ई० पू० तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ होगा। उस समय चाल्डिया के राजमहल, मिस्र की गुफा मसजिदें तथा पिरैमिड सैकड़ों वर्ष प्राचीन हो चुके थे। भारत मे एथेन्स के पैरेथियोन के सदृश कोई अन्य इमारत नहीं है* ।"

पुरातत्त्व-विभाग के स्थापित होने से पहले भारतीय इतिहास की बहुत कम दृष्ट सामग्री थी। यह सत्य है कि दृत-कथाओं के आधार पर भारत का एक सुचारु इतिहास बन सकता था, किंतु उसकी सत्यता पर सभी संदेह करते। क्योंकि स्वभावतः मनुष्य प्रत्येक घटना की सत्यता के लिये प्रमाण माँगता है। परिणामतः लोग भारत की धार्मिक महत्ता, उसके पारलौकिक, लौकिक-दर्शन तथा आचार-विचार की श्रेष्ठता को मानते तो अवश्य थे, किंतु भारतीय इतिहास की सामग्री को वे बहुत पीछे नहीं ले जाते थे। भीठा, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली आदि स्थानों की खुदाई मे भी ऐसे कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त नहीं हुए जिनसे कि अति प्राचीन समय पर कुछ प्रकाश डाला जाता।

---

* प्रोसिडिंग्ज ऑव दी एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल १९००, पृ० १५७।

किंतु सन् १९२२ ई० मे भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य्य कर डाला। इस साल प्रागैतिहासिक युग की जो वस्तुएँ मोहे जो दड़ो मे मिलीं, उन्होंने भारत के अंधकारमय युग पर नवीन प्रकाश डाल दिया है। यदि आज लार्ड कर्जन भी यहाँ पर होते तो प्रसन्नता के साथ, अपनी धारणा मे परिवर्तन करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते। वास्तव मे लार्ड कर्जन का ध्येय भारतीय इतिहास की महत्ता को कम करना न था। कर्जन सौंदर्य के अनन्य उपासक थे, और वे अस्त सभ्यताओं के मनुष्यों तथा अवशेषों का विशेष आदर करते थे।

गत ४० वर्षों मे भीठा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वैशाली, सारनाथ, सहेत महेत, लौरिया नंदनगढ़, पहाड़पुर, राजगृह, नालंदा आदि आदि प्राचीन स्थानों में पुरातत्त्व विभाग ने विशद खुदाइयाँ की हैं। प्रसन्नता की बात है कि इन स्थानों से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर भारत का बहुत कुछ इतिहास ज्ञात हो गया है।

यदि आज ये वस्तुएँ हमारे सम्मुख न होतीं तो हम भारतीय इतिहास के विषय में कुछ न जान पाते। चिरकाल से भारत भविष्यवादी रहा है। यहाँ के ऋषियों ने भूत को नापने या उसको चिरस्थायी रखने की कोई चेष्टा नहीं की। क्योंकि बीता काल उनके लिये विशेष महत्त्व का नहीं था। इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि पारलौकिक विषयो के चिंतन

मे संलग्न होने के कारण, प्राचीन ऋषि-मुनि इतिहास से उदासीन रहते थे*। प्राचीन काल मे इतिहास की महत्ता जानते हुए भी ऋषि मुनि भूत को भूलना चाहते थे। वे सर्वथा वर्तमानवादी थे।

किंतु उन्होंने इतिहास को स्थायी रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यदि उन्होंने हिरोडोटस या टैसिटस की तरह ऐतिहासिक राजवशावलियों तथा घटनाओं को शृंखलाबद्ध रख छोड़ा होता, तो आज हमे भारत की अनेक विडम्बनाओं के लिये अँधेरे में व्यर्थ नहीं भटकता पडता।

अब सिंधु प्रांत की खुदाइयों तथा मनुष्यों के दृष्टिकोणों मे परिवर्त्तन होने के कारण भारत का एक नवीन इतिहास बन गया है। अनेक भारतीय तथा वैदेशिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि सिधु प्रांत की सभ्यता, सभ्यता तथा सस्कृति के जन्मदाता समझे जानेवाले देशों, मेसोपोटेमिया तथा मिस्र से अनेक दिशाओं मे बढ़ चढ़कर थी।

इस सभ्यता को सम्प्रति हम सिधु-सभ्यता कहेंगे; क्योंकि इसकी उत्पत्ति तथा विकास सिधु नदी के तट पर ही हुआ था। संसार के इतिहास मे नदियो ने कई सभ्यताओं को जन्म दिया है। एक युग था जब कि वीरान तथा ऊसर देशों को छोड़कर लोग

---

* इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।—छान्दोग्य उपनिषद् ७, १, २,।

नदियो के तट पर बसते थे। यहाँ पर उर्वरा भूमि के कारण उनकी भोजन-समस्या सुलझ जाती थी। घास और पानी की सुविधाओं के कारण वे मवेशियों को भी पाल सकते थे। ऐसी सुविधाजनक परिस्थिति में रहकर, उनकी कल्पना जागृत हो उठी और परिणाम-स्वरूप उन्होंने अनेक ऐसी वस्तुओं तथा विचार-धारा का निर्माण किया जिनसे कि कालांतर में एक विशिष्ट सभ्यता बन गई। सिंधु, नील तथा फरात नदियों के तट पर इसी प्रकार से सभ्यताएँ उत्पन्न हुईं।

नदियों की इस सुंदर देन से प्रसन्न होकर ही ऋग्वेद के ऋषि-मुनियों ने भारत की नदियों के यश के सुंदर गान गाए—

> इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि-स्तोमं सचता परुष्णया।
> असिक्न्या मरुद्वृधे-वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।।
> (ऋ० १०, ७५, ५)

सिंधु नदी के तट पर एक समय सिंधु प्रांत का एक अज्ञात नगर बसा था। आजकल इस स्थान के लिये 'मोहे जो दड़ो' कहते हैं, जिसका अर्थ सिंधी भाषा में 'मृतकों का स्थान' होता है। यह स्थान सिंधु प्रांत के लरकना नामक प्रदेश में स्थित है। यहाँ जाने के लिये एन० डबल्यू० आर० के डोक्री नामक स्टेशन पर उतर जाना पड़ता है। यहाँ से 'मोहे जो दड़ो' आठ मील की दूरी पर है।

मोहें जो दड़ो शब्द सिंधु-प्रांत मे नवीन नहीं था। आपसी बातचीत मे लोग प्रायः इसका वर्णन किया करते थे। आजकल तो भारत मे प्राचीन स्थानों का महत्त्व बढ़ गया है। लोग प्राचीन वस्तुओं की खोज में प्राचीन टीलों का भ्रमण करते रहते है। किंतु कुछ वर्ष पहले इने गिने व्यक्तियों ही की दृष्टि प्राचीन खँडहरों की ओर जाती थी। मोहे जो दडो का दृश्य उस समय देखने में बडा विचित्र था। लगभग २६६ एकड़ भूमि पर असंख्य निष्प्राण एवं सैकडों पगों की ठोकरें खाकर भी जीवित रह सकनेवाली ईंटें तथा मिट्टी के बर्तन पड़े थे। एक समय तो इन ईंटों द्वारा बनी दीवारों ने संपन्न लोगों को आश्रय दिया होगा और मिट्टी के बर्तनों ने सैकडों लोगों की क्षुधा और पिपासा शांत की होगी। शताब्दियों तक इस नगर के भग्न रूप को देखनेवाले केवल वनचर, उलूक तथा कीड़े-मकोडे रहे। इन टीलों के ऊपर अनेक नदी तथा नाले फूट पड़े थे। यह स्थान बड़ा भयानक तथा सुनसान दिखलाई देता था।

पुरातत्त्व विभाग के अफ़सरों ने कई बार इन टीलों का निरीक्षण किया किंतु सन् १९२२ ई० तक यहाँ पर कोई खुदाई का कार्य्य प्रारंभ नहीं किया जा सका। सन् १९२२ ई० में (अब स्वर्गीय) श्री राखालदास बनर्जी इस स्थान पर स्थित कुषाण-कालीन विहार तथा स्तूप के चारों ओर खुदाई कर रहे थे। इस बौद्ध विहार पर कई युगों की ईंटें लगी थीं। स्तूप से २० फीट की गहराई पर सबसे पहला प्राकार मूल था।

अचानक खुदाई में श्री बनर्जी को प्रागैतिहासिक युग की मुद्राएँ मिल गईं। ऐसी ही अनेक मुद्राएँ कई वर्ष पूर्व सर कनिंघम ने मोंटगोमेरी नामक प्रदेश में स्थित हडप्पा गाँव से प्राप्त कर ली थीं। कनिंघम महोदय ने हडप्पा के टीलों पर साधारण खुदाई भी की। उन्हे कुछ पत्थर के हथियार तथा एक मुद्रा भी मिली। इस मुद्रा पर कूबड़दार बैल का चित्र था। उस समय कनिंघम साहब की धारणा थी कि यह मुद्रा भारतीय नहीं किंतु वैदेशिक है*। श्री बनर्जी को शीघ्र ही इस स्थान की प्राचीनता का पता लग गया। उत्सुक होकर बनर्जी महोदय ने स्तूप की ओर का पूर्वी भाग तथा निकट के ही दो अन्य टीलों को खुदवाया। उनका अनुमान था कि नीचे की तहे स्तूप के निर्माण-काल से तीन चार सौ वर्ष प्राचीन है। प्रागैतिहासिक युग की नालियाँ तथा कमरे भी श्री बनर्जी ने खोदे। इन महत्त्वपूर्ण खुदाइयों के कारण भारतीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने विशद योजना से इस स्थान पर खुदाई प्रारंभ की। दस वर्षों के अंदर यहाँ पर जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनसे ही इस स्थान की महत्ता का पता चल गया है। बनर्जी महोदय के बाद सर जॉन मार्शल, डा० अर्नेस्ट मैके, श्री काशीनाथ दीक्षित तथा श्री (अब स्वर्गीय) दयाराम साहनी का कार्य्य विशेष महत्त्वपूर्ण रहा।

---

* कनिंघम—आरकियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १८७५, जिल्द ५, पृ० १०८।

उधर हड़प्पा में श्री दयाराम साहनी तथा श्री माधवस्वरूप वत्स ने भी अनेक महत्त्व की खुदाइयाँ कीं। सिंधु-प्रांत की तीक्ष्ण जलवायु में इन अफसरों ने जिस त्याग एव साधना से कार्य्य किया उसके लिये सारा संसार इनका चिर ऋणी रहेगा। आज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में स्थानीय संग्रहालय भी स्थापित कर दिए गए है जहाँ पर पुरातत्त्वप्रेमी, नगर-शैली तथा अन्य बातों के साथ-साथ, यहाँ से प्राप्त वस्तुओं का भी अवलोकन कर सकते हैं।

जब मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे खुदाइयाँ हो रही थीं तो पुरातत्त्व के पंडितों ने यह अनुमान किया कि यह सभ्यता एक ही दो स्थानों तक सीमित नहीं रही होगी। सर्वप्रथम इस सभ्यता के अवशेष ढूँढ़ने के लिये सर औरियल स्टाइन तथा मि० हारग्रीव्ज ने बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया में भ्रमण किया और भाग्यवशात् उन्हे अपने अपने परिश्रमों का उचित फल प्राप्त हुआ। इन पंडितों की खुदाइयों तथा खोजों मे ज्ञात हुआ है कि सिंधु-सभ्यता भारतीय सीमा को लाँघकर बलूचिस्तान तथा गिड्रोशिया तक पहुँची थी।

श्री (अब स्वर्गीय) एन० जी० मजूमदार ने सिंधु प्रांत के विभिन्न स्थानों मे दौरा किया। उन्होंने किरथर पहाडी के समानांतर बसे प्रागैतिहासिक स्थानों का निरीक्षण किया। उनके अनुसार हैदराबाद (सिंधु प्रांत) से लेकर जैकोबाबाद तक प्राचीन उपनिवेशों या नगरों की एक पंक्ति थी। १९२९ ई० मे

श्री मजूमदार फिर सिंधु प्रांत के द्वितीय निरीक्षण के लिये नियुक्त हुए; किंतु खेद है कि उन्हे कुछ डाकुओं ने दादू नामक स्थान मे मार डाला। उनकी मृत्यु से भारत का एक प्रगाढ़ पुरातत्त्व-पंडित खो गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अपने युग मे हडप्पा तथा मोहे जो दडो राजधानियाँ थीं। इस समय के देखने से तो यही विदित होता है कि हडप्पा आकार मे मोहे जो दडो से बड़ा है। एक बार उजड जाने पर संभवत: किसी भी प्रागैतिहासिक स्थान पर नगर नहीं बसाए गए। यहाँ तक कि कुछ के निकट तो बाद की बसाकत के चिह्न तक नहीं दीख पडते। केवल सैकडों वर्ष बाद बौद्ध धर्म के प्रचलन के साथ साथ मोहे जो दडो मे एक बौद्ध स्तूप तथा विहार बना। मुद्राशास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि यह विहार कुषाणवंशीय नरेश वासुदेव के काल से चल रहा था। ईसवी पाँचवीं या छठी शताब्दी तक के सिक्के यहाँ पर प्राप्त हुए हैं। सभवत: यह स्थान ईसवी १५० से ५०० तक जागृत रहा*।

गत कुछ वर्षों मे भारत के कई प्राचीन नगर खोदे गए है, किंतु इनमे अधिकतर खडित अवस्था मे पाए गए हैं। सतोष का विषय है कि मोहे जो दडो के मकान तथा दीवारे भारत के

---

* मार्शल—मो० ई० सि० पृ० १२३।

अन्य दबे नगरों से बहुत सुरक्षित हैं। इसी कारण निस्संकोच यह बतलाया जा सकता है कि इस नगर की निर्माण-प्रणाली मिस्र तथा बेबीलोन से उन्नतर है* ।

मोहें जो दड़ो मे पाई गई वस्तुओं से पता चलता है कि यह नगर समृद्धिशाली था। इसका वास्तु तथा आरोग्य-रक्षण विभाग सभ्यता की किसी उच्च दशा मे ही उत्पन्न हो सका होगा। जीवन की कतिपय सुविधाएँ भी लोगों को उपलब्ध थीं।

आज नहरों के जाल बिछाए जाने के कारण सिंधु प्रांत फिर से उपजाऊ बना दिया गया है। किंतु प्राचीन काल में यहाँ अप्राकृतिक साधनों से प्राप्त जल की आवश्यकता न थी। समय समय पर इस प्रांत के निवासियों को प्रचुर मात्रा में वृष्टि का जल उपलब्ध हो जाया करता था।

भौगोलिक दृष्टिकोण से भी कोई नगर वहीं पर बस सकता है जहाँ पर कि खेती, पशु-पालन तथा रहन-सहन की अन्य सुविधाएँ हों। चीन के गोबी, अफ्रिका के सहारा और राजपूताना के रेगिस्तानों में बसने की स्वप्न मे भी मनुष्य चेष्टा नहीं करेगा। मनुष्य सदैव अनुकूल जलवायु के स्थानों को अपने निवास के लिये ढूँढता है। मोहे जो दडो तथा हडप्पा के बसने से पहले

---

* प्रोग्रेस ऑव साइंस ड्यूरिंग दि पास्ट ट्वंटी फाइव इयर्स, पृ० २६१ ।

इन सभी बातों को देख लिया गया होगा। नालियों की प्रचुरता से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे सिंधु-प्रांत मे जल की कमी न थी। नम जलवायु को पसंद करनेवाले पशु जैसे गैडा तथा भैस का चित्रण प्रायः मुद्राओं पर दीख पडता है। बाघ का कोई चित्रण न पट्टियों पर है और न मुद्राओं पर, क्योकि बाघ सदैव सूखी हवा को पसद करता है। पत्तियों, तथा वृक्षों के चित्रण से भी ज्ञात होता है कि वहाँ सु दर हरे भरे वृक्ष थे। फिर मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा (निम्न तल) मे पकाई हुई ई टें ही प्रयुक्त हुई है। ऐसी ई टों पर पानी अपना असर नही करता। पकाई हुई ई टों मे अधिक खर्च लगता है। और यदि सिंधु प्रांत निवासियों को वर्षा का भय न होता तो वे अवश्य सस्ती तथा कच्ची ई टों को ही इमारतों मे काम मे लाते। फिर कच्ची ई टे कमरों को ठंडा भी रख सकती थीं और इस बात को अवश्य सिंधु प्रात निवासी जानते थे। किंतु उन दिनों वहाँ का जलवायु इतना गरम नहीं था, जितना कि आज कल है*।

मुसलमान तथा अरब इतिहासज्ञों के भ्रमण-वृत्तांतों मे हम सिंधु प्रात मे वर्षा ऋतु और वर्षा होने का वर्णन पाते है। अमीर तैमूर के धावे (सन् १३९८ ई०) तथा आईने अकबरी की समाप्ति (सन् १५९५-९६ ई०) तक के २०० वर्षों मे ही सिंधु

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २,३।

प्रांत की जलवायु मे विशाल परिवर्त्तन हो चुके थे। १८९२ ई० में डेविड रौस ने लिखा था—सिंधु प्रांत में कभी वर्षा नहीं होती। कभी कभी तो लगातार यह देश जल-विहीन रहता है। वेस्टमैकोट ने लिखा है कि एक बार बीस वर्ष तक सिंधु-प्रांत मे वर्षा नहीं हुई। इन भ्रमणकर्ताओं के वर्णनों से ज्ञात होता है कि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी तक सिंधु प्रांत जल के लिये तरसने लगा था। आज सिंधु प्रात का जलवायु विचित्र है। जाडे में तो चुभती हुई ठडी हवाएँ चलती है और ग्रीष्म ऋतु में भयंकर गर्मी पडती है। गर्मी के तापक्रम का औसत ९५ डिग्री और जाडों का ६० डिग्री है। किंतु ग्रीष्म ऋतु मे तापक्रम कभी कभी ११४ से १२० डिग्री तक पहुँच जाता है*।

प्राचीन सिंधु-प्रांत की समृद्धि केवल वर्षा ऋतु पर ही नहीं, वरन् सिंधु नदी के जल पर भी अवलंबित थी। प्रति वर्ष बर्फ के गलने पर यह नदी मैदानों मे पुलिनमय मिट्टी तथा जल पहुँचाती थी। इसकी लम्बाई घुमाओं के सहित इस समय लग-भग ५८० मील है। किंतु जहाँ सिंधु नदी से इतने लाभ थे, वहाँ इससे हानियाँ भी कम नहीं थीं। लोगों को समय समय पर भयंकर बाढ़ों की आशका रहती थी। उनको अपने जीवन तथा मकानों को सुरक्षित रखने के उपचार ढूँढ़ने पडते थे। वर्ष

---

* इपीरियल गजेटियर ऑव इडिया, १९०८, जि० २२, पृ० ३९३।

मे कभी कभी सिंधु नदी में इतनी भयंकर बाढ़ें आती थी कि इसके तट पर बसे लोगो को अपने प्राण बचाकर, रात्रि हो या दिवस, भागना पड़ता था। फिर सिधु नदी इन नगरों को अपने आँचल मे सदैव के लिये छिपा लेती थी। किंतु यहीं तक इन आतकों की इतिश्री नहीं थी। यह नदी तो अपने पुलिन तक को बदल देती थी। फिर मनुष्य अपना सब कुछ खोकर जहाँ पर वे पानी के चश्मे या सोते देखते, बस जाते थे। पानी की नहरों से भी प्रायः काम चल जाया करता था। पोखरन गाजीशाह, डामबूथी, बधनी नामक स्थान ऐसे ही जल की सुविधा के स्थानों मे बसे थे। ये सभी स्थान सिंधु नदी से दूर बसे हैं*। सिंधु नदी के स्थायी पुलिन न होने का परिणाम यह भी हुआ कि इस प्रांत की कोई भी राजधानी अधिक समय तक नहीं रही। थोड़े वर्षों के अंतर्गत कई नगर इसके तट पर बसे और फिर नष्ट हुए†।

अरब इतिहासज्ञों ने लिखा है कि उनके काल मे सिंध मे सबसे बडी नदी 'मिहिरान' थी। 'इश्तखारी' मे लिखा है कि सिंध की नदी (जिसे सिंध की मिहिरान कहते हैं) का उद्गम-स्थान एक पर्वत पर है जिससे कि जिहूँ की शाखाएँ निकलती है।

---

* आ० स० मे० न० ४८, पृ० १४६।

† पिरिथवाला—ए ज्योग्रैफिकल ऐनेलेसिस ऑव दि लोअर इडस बेसिन (सिंध), पृ० १२।

पर्वत से निकल कर मुल्तान के निकट होकर, मिहिरान वसमिद और अलोर की सीमा को पार करती है और फिर मनसूरिया होते हुए देवाल के पूर्व मे गिरती है। सिंध रुद यहाँ से तीन दिन के रास्ते पर है। मिहिरान के साथ मिलने से पहले भी इसका पानी बडा मीठा है। इन इतिहासज्ञों ने तीन नदियों (१) सिंधु या आबे सिंध (२) विआह (व्यास) तथा (३) हक्रा वा हिंद या सिंध सागर का सुंदर वर्णन किया है। लगभग इन सब नदियों का पानी जमा होकर मिहिरान मे जाता था। मुल्तान से आगे जाकर ये सब नदियाँ दोशे आब (आधुनिक साहिब) नामक स्थान पर मिलती थीं।* अरब विजय के समय सिंधु-प्रांत मे सबसे बडी नदी हक्रा थी। इसकी दो शाखाओं मे से एक पश्चिम की ओर अलोर के निकट होकर बहती थी। डेल्टा पर पहुँचकर एक तो सीधे समुद्र मे तथा दूसरी कच्छ की खाडी मे गिरती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बार-बार पुलिन बदलने से हक्रा की शाखाएँ भी अलग-अलग हो गई। हक्रा नदी स्वयं भूमि के अंदर कई स्थानों मे लुप्त हो जाती थी। यह हक्रा शायद वेदों मे वर्णित सरस्वती नदी है†। अमरकोष मे वर्णित यह नदी इस प्रांत को उदीच्य तथा प्राच्य भागों मे बाँटती थी।

---

* ज० ए० सो० बं० जिल्द ६१, पृ० २११-१२।

† मॉडर्न रिव्यू—अगस्त १९३२, पृ० १५४।

संभवत: चौदहवी शताब्दी के मध्य मे सिधु नदी ने अचानक मिहिरान को छोड दिया। मेजर रेवर्टी इसका कारण भयकर बाढ़ का आना बतलाते है*। इस समय दो नदियाँ समानांतर रूप मे समुद्र मे गिरती थीं।

अब यह देखना है कि सिधु प्रांत के इतने ऐश्वर्य्यशाली स्थान कैसे अंधकार मे विलीन हुए। मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा को शायद कभी किसी बाहरी शत्रु ने बुरे ढग से नहीं लूटा था। भारत के प्राचीन नगरों का नाश तो क्रूर या बर्बर जातियों ने, जिन्हे हिंदू धर्म और संस्कृति से घृणा थी, किया। किंतु सिधु प्रांत के नगरों का नाश पोषण करनेवाली प्रकृति ने ही किया। एक ओर तो जलवायु मे परिवर्त्तन हुए और दूसरी ओर बाढों का आतक रहा।

जलवायु-परिवर्त्तन के कई कारण बतलाए गए है। जलवायु-विशारदों का मत है कि हिम युग तथा उसके पूर्ववर्ती युग मे उत्तर वेगानिल कटि आर्कटिक के दबाव से दक्षिण की ओर खिसक गई। इस धारणा के अनुसार सहारा, मिस्र, अरब, मेसोपोटेमिया, फारस, बलूचिस्तान तथा सिंधु प्रांत मे एक बार सुदर वर्षा होती थी।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मौसमी हवाओं के रुख में परिवर्त्तन होना ही मोहे जो दडो के नष्ट होने का कारण

---

* ज० ए० सो० बं० जिल्द ६१, पृ० ३६१-६२।

है*। मौसमी हवाएँ बराबर अपना रुख बदलती जा रही हैं।
आजकल की दो मौसमी हवाओं मे दक्षिण पश्चिमी तो कच्छ मे लखपत तक ही रुक जाती है; उत्तरी पूर्वी हवा कराची से आगे नहीं बढ़ती। सिंधु प्रांत मे फिर स्वाभाविक वर्षा भी नहीं होती। वर्ष भर मे कभी कभी ८ ही इच की औसत मे पानी बरसता है†। फिर जलवायु-विशारदों की गणनाएँ भी बतलाती हैं कि सिंधु प्रांत मे दिनोंदिन कम वर्षा हो रही है। चौदहवीं शताब्दी मे जो मुसलमान भारत मे आए थे उन्होंने मुल्तान मे वर्षा ऋतु का होना लिखा है। किंतु आज मुल्तान मे नाम मात्र ही के लिये वर्षा होती है। प्राचीन काल मे मुल्तान एक प्रसिद्धिप्राप्त स्थान था। अल मसूदी ने लिखा है कि मुल्तान की सीमा के अदर १,२०,००० गाँव और रियासतें है। उस समय लोग मुल्तान को फराख या सोने का खजाना कहते थे। १३९८ ई० के लगभग मुल्तान मे इतनी घोर वर्षा हुई थी कि अमीर तैमूर की सेना के सब घोड़े, जो उसके पुत्र के अधीन थे, बह गए थे। मनसूरिया के लिये भी कहा गया है कि यह एक अच्छा खेतिहर स्थान था।

अब हम नदियों के रुख का विवेचन करेंगे। सिधु प्रांत की सभी नदियाँ प्रायः बर्फ से ढके पर्वतों से निकलती है।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३।

† इंपीरियल गजेटियर ऑफ इडिया, १९०८, पृ० ३९४।

वर्ष में कई बार विशेषकर ग्रीष्म ऋतु मे, बर्फ के गलने पर, इन नदियों मे बाढ़ आती है। ऋग्वेद तक मे लिखा है कि एक बार रावी मे भयंकर बाढ़ आई थी*। मोहे जो दडो की विभिन्न तहों से ज्ञात होता है कि यहाँ बाढ के दो प्रकोप हुए थे और दो ही बार यह नगर फिर से बसा था। यहाँ तक कि १९३९ ई० मे मोहे जो दड़ो के कुछ टीलों तक बाढ आई थी। संभव है ऐसी ही कोई भयंकर बाढ़ मोहे जो दड़ो के अंतिम युग मे भी आई हो जिसने सिधु सभ्यता को सदैव के लिये छिन्न-भिन्न कर डाला। छोटी छोटी बाढ़ों के कारण तो लोग मकानों को थोड़े ही दिनों के लिये छोड़ते थे, किंतु बड़ी बाढ़ के आने पर उन्हे काफी समय तक बाहर रहना पड़ता था†। मकानों के लिये पीठिकाएँ भी इसी लिये बनती थीं। देहलियाँ भी सदैव सड़क की सतह से ऊँची होती थीं। नदियों के किनारों पर प्रायः मिट्टी जमा हो जाती थी। उस समय सिंधु नदी शायद धीमी गति से बहती थी, किंतु फिर भी आकस्मिक बाढ़ें आ ही जाती थीं। इधर-उधर मिट्टी तथा बालू भरती आ रही थी। तीस फीट की गहराई तक पकाई हुई ईंटे प्राप्त हुई हैं। ऐसे मिट्टी तथा बालू से भरे तटों पर नदियों के रुख में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। केवल बर्फ के गलने पर ही बाढें नहीं आती थीं। इस

---

* ऋ० ७, १८, ५।

† मैके—फ० य० मो० पृ० ८।

प्रांत मे तो विचित्र वर्षा होती थी। इस कारण कई बंध टूट जाते थे और इस प्रकार धन जन की गहरी क्षति होती थी।

इसमे कोई सदेह नहीं कि सिंधु प्रांत की नदियाँ बराबर अपना रुख बदलती आ रही हैं। प्राचीन नदियों के पुलिन मुल्तान के पश्चिम मे अभी तक दृष्टिगोचर होते है। मुजफ्फरपुर जिले के बीच से होकर शायद एक बार सिंधु नदी बहती थी। बर्नेज सन् १८३४ ई० मे आम्री आया था। एक स्थान पर उसने लिखा है कि आम्री बडा समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन काल में यह नगर एक राजधानी था। सिधु नदी के ही कारण इसका नाश हुआ। वर्टन सिंधु-प्रांत मे सर्वे का एक अफसर था। नदियों के बारे में वह लिखता है—"सिधु प्रात मिट्टी का एक ढलुवाँ टुकडा है। इस भूमि पर सिंधु नदी इतनी जल्दी नए रास्ते बनाती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ईंटों की जरा ऊँची दीवार को सिधु नदी के पुलिन मे खड़ी कर देने से नदी से एक नहर फूट पडती है। यह नदी एक विशाल राजधानी तथा बीस कस्बों को तुरंत नष्ट कर सकती है। हरे-भरे बगीचों को यह रेगिस्तान बना सकती तथा रेगिस्तानों को सुंदर उद्यान बना सकती है"*।

जब यवन लोग भारत मे आए तो उन्होंने भी नदियों के बहाव मे परिवर्त्तन पाया। एक बार आरिस्टोबोलस को अलेक-

---

* वर्टन—सिंदे, जिल्द १, पृ० २०२।

जेडर ने एक कमीशन मे भेजा। रास्ते मे एक स्थान पर उसने एक हजार से ऊपर नगरों और गाँवों को उजाड देखा। इनके उजाड़ होने का कारण सिंधु नदी का पूर्व की ओर बहना था*।

इस समय सिंधु नदी मोहे जो दड़ो से ३½ मील की दूरी पर है। प्राचीन काल मे यह शायद नगर के अति निकट बहती रही हो। लोहूम जो दडो, चन्हू दडो तथा मोहे जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों मे बालू के कण मिले हुए है। इससे भी मालूम होता है कि ये स्थान नदियों के निकट थे। आज सिंधु नदी चन्हू दडो से १२ मील की दूरी पर है, किंतु यहाँ से २ मील की दूरी पर अभी तक नदी का एक पुलिन दीख पडता है। इस नदी की शाखाएँ शायद बार बार चन्हू दडो पर धावा करती थीं। बाढ़ आने पर चन्हूदडो-निवासी लंबे अर्से के लिये अपने नगर को छोड देते थे। मोहे जो दडो मे दूसरी बार के मकान पुरानी दीवारों पर ही रखे जाते थे, किंतु चन्हूदड़ो मे ऐसा नहीं होता था। चन्हूदडो में लंबे अर्से तक मकानों के छूट जाने के कारण उन पर कूडा, मिट्टी आदि भर जाती थी। इस कारण नए मकानों की नींवे इसी कूडे मिट्टी से बनी भूमि पर डाली गईं। प्राचीन दीवारें तो कहीं नीचे दब जाती थीं।

हडप्पा का नाश भी रावी के पुलिन मे परिवर्त्तन होने के कारण हुआ। इस समय रावी हडप्पा से ६ मील उत्तर को

---

* स्ट्रैबो, १५ (सी) ६८९।

बहती है। आजकल जहाँ हड़प्पा स्थित है वहाँ की भूमि बिल्कुल उपजाऊ नहीं है। हड़प्पा के टीलों* के चारों ओर मूल पर पडे ईंटों के बड़े बड़े ढेरों से ज्ञात होता है कि वे बाढ़ के लिये बंधों का काम देते थे। उधर चकपुरवाने स्याल नामक स्थान का नाश व्यास नदी के पुलिन मे परिवर्त्तन होने के कारण हुआ।

मोहे जो दडो मे बाढ के बार बार आतंक होते रहे। एक दो बार तो नगर-निवासी बाढ की समाप्ति पर लौट भी आए। आखिर वे अपनी विशाल संपत्ति से कैसे एकदम मुख मोड सकते थे। किंतु ऐसे आतंकों के बीच भी कब तक वे रह सकते थे। तग आकर अंत में उन्होंने इस स्थान से सदैव के लिये विदा ले ली। उजाड तथा दबे हुए मकानें के अंदर पानी के साथ बहकर आई हुई ईंटें तथा मिट्टी अब भी खुदाई करने पर दीखती हैं। इस मिट्टी की तहें दो फीट तक मोटी है और अनुमानतः यह मिट्टी एक वर्ष के अंदर भरी होगी†। अनेक प्रमाणों से विदित होता है कि सिंधु नदी अब पश्चिम की ओर बह रही है।

बाढ, वर्षा तथा नदियों से ही इस प्रांत की क्षति नहीं हुई; भूकपों ने भी इस प्रदेश के वासियों को तंग किया। तूफानी हवाओं

---

* आ० स० रि०, १९३५-३६, पृ० ४०।

† वही, १९२८-२९, पृ० ७२।

के भयकर दौरे भी इस देश के इतिहास मे कम नही हुए है। भूकप के कई चिह्न तो सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान मे भी मिले हैं*। भूकप से नदियों के पुलिन बदल जाते थे। सन् १९१९ ई० मे कच्छ की खाडी मे भूकपों से बडे परिवर्त्तन हुए थे। इसी प्रकार सिधु-प्रांत मे कभी कभी असाधारण वर्षा भी हो जाया करती है। सन् १९०२ ई० मे कराची मे २४ घंटे के अदर १२ इच पानी बरसा।

प्रकृति ने ही सिधु प्रात-निवासियो के शातिमय जीवन में बार बार उथल-पुथल मचाई। खेती के नष्ट होने की भी बार बार आशंका होती थी। जलवायु मे भी परिवर्त्तन हो गए थे, सिंधु नदी के डेल्टे मे मिट्टी भरती जा रही थी। अच्छे अच्छे बंदर-गाह जमीन के अदर ढकेले जा रहे थे। इन कारणों से उन्होंने धीरे धीरे नगर को छोडना प्रारंभ किया। आतक या भगदड के कोई चिह्न मोहे जो दडो तथा हडप्पा में नहीं मिलते है।

एक दिन सूर्य्य, चद्र, आकाश की तारिकाओं तथा आकाशगामी पक्षियो ने अचानक देखा होगा—मोहे जो दडो सुनसान पडा है। जिन राजपथों पर ठठाके की हँसी, गर्म गर्म बातें, वाद-विवाद तथा आपसी भेंटें हुआ करती थीं वहाँ केवल सायँ सायँ करती हवाएँ करुण राग गा रही है। जगत् मे सहस्रों आकांक्षाओं तथा कार्य्यों का कदाचित् ऐसा ही अत हुआ करता है।

---

* आ० स० मे० न० ४०, पृ० ३३, १३२, १८६।

अनेक विद्वानों की धारणा है कि मोहे जो दड़ो निवासी किसी दूसरे प्रांत में चल दिए थे। और यह बहुत संभव है कि ये लोग दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर जाकर बसे हो। मोहे जो दड़ो के बाद के नक्काशीदार काली मिट्टी के बर्तनों की तरह के बर्तन दक्षिण भारत के लौहकालीन स्थानों, विशेष कर बंगलोर के निकट हट्टनहाली नामक स्थान मे प्राप्त हुए हैं*। किंतु अभी निश्चित धारणाएँ निर्धारित करने के लिये कुछ और समय तक रुकना होगा।

इस प्रकार इस सभ्यता के केंद्रीय नगर अंधकार मे विलीन हुए। ५००० वर्षों के अंदर संसार भी सिंधु सभ्यता को भूलता गया। जीवन के एक कठोर अभिनय की समाप्ति को भी ससार शीघ्रता के साथ भूल जाता है। और ठीक यही बात सिंधु सभ्यता के साथ भी घटित हुई। भूत को लोग शीघ्र भूल गए। अब नए ससार, नई सभ्यताएँ, नए आदर्श आए। उन्ही पर लोग दृष्टिपात करने लगे।

१८४३ ई० मे पोस्टेंज ने लिखा था—"इस प्रांत का भूगोल विचित्र है। कभी औद्योगिक केंद्र का दावा रखनेवाले नगर आज व्यापार के लिये अनुपयुक्त हो गए है। अन्य सुविधाएँ भी जाती रही है। व्यापार के प्रमुख बंदरगाह भी नष्ट हो गए है। जहाँ पहले हरे भरे खेत थे, वहाँ आज रेगिस्तान

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५८।

हैं। आरामतलब सिंधु-प्रात निवासी नदियों के तट पर रहना पसंद करते हैं और फलतः बाढ़ से गाँव के गाँव बह जाते हैं। सुनसान रात्रि मे सिंधु नदी के किनारे की भूमि के गिरने से ऐसा शब्द होता है मानों कहीं दूर कोई आग्नेयास्त्रों का प्रयोग कर रहा हो*"।

---

* पोस्टेंज—पर्सनल ऑब्जरवेशन्स ऑन सिंध, पृ० १८।

द्वितीय अध्याय

सिंधु प्रांत-निवासी तथा नगर काल

(मोहे जो दड़ो की सभ्यता को नवीन-प्रस्तर-ताम्रयुग की सभ्यता के अंतर्गत रक्खा गया है। इस युग मे पत्थर के बने हथियारों के साथ साथ पीतल तथा ताम्र की वस्तुओं का प्रयोग होता था। किंतु मोहे जो दड़ो की सभ्यता मे कई विशेषताएँ भी थीं। नवीन प्रस्तर-ताम्रयुग की अन्य सभ्यताएँ सूती कपडे तथा कपास से विज्ञ नहीं थीं। फिर उन सभ्यताओं के भवन भी इतने सुंदर ढंग से निर्मित न थे जितने मोहे जो दडो मे।)

(इस नगर की समृद्धि किस काल में थी और कौन यहाँ के निवासी थे, इस विषय पर समय समय पर अनेक विद्वान् लिखते रहे हैं। वास्तव मे सारी समस्या की सुलझावट-सिधु-लिपि के पढ़े जाने पर अवलंबित है।) कतिपय विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया भी है, किंतु वे अपने प्रयत्न मे असफल से रहे है। वास्तव मे मोहे जो दड़ो की यह सभ्यता सिधु प्रात तक ही सीमित न थी। सर जॉन मार्शल के मतानुसार इस सभ्यता का प्रभाव गंगा, यमुना, नर्मदा तथा ताप्ती की घाटी तक पहुँचा था। हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो की खुदाइयों से ज्ञात होता है कि पंजाब मे

इस सभ्यता का दृढ़ प्रभाव था। उत्तर पूर्व मे इस सभ्यता के अवशेष रूपड तक मिले है*। डेराजाट, बन्नू तथा झोब की ओर भी यह सभ्यता फैली थी। इधर गंगा की घाटी (बक्सर) मे भी प्रस्तर-ताम्रयुग की वस्तुएँ प्राप्त हुई है। श्री माधवस्वरूप वत्स ने काठियावाड़ की लिम्डी स्टेट मे भी सिंधु आदर्श की अनेक वस्तुएँ प्राप्त की थीं †।

पश्चिम मे नाल (कलात स्टेट) तथा बलूचिस्तान के पूर्वी भाग मे भी सिंध सभ्यता का प्रभाव फैला था। उस समय बलूचिस्तान अधिक सभ्य नहीं था और इसलिये वह और सुसंस्कृत देशों की सभ्यताओं से ज्ञान तथा प्रकाश पाता था। पश्चिमी बलूचिस्तान, फारस से प्रेरणा लेता था।

मोहे जो दडो मे इमारतों की सात तहे निकली हैं। इन इमारतों की दीवारें, केवल सबसे ऊपर वाली को छोडकर, प्रायः एक ही ढंग की है। बर्तन, मुद्राएँ आदि मे भी कोई परिवर्त्तन नहीं दीख पडता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मोहे जो दड़ो मे बाढ़ के आतक जल्दी जल्दी होते रहे। यदि बाढ के बीच का समय अधिक होता तो इन वस्तुओं मे भी कालानुसार परिवर्त्तन हो जाते। सर जॉन मार्शल मोहें जो दडो नगर की आयु कुल ५०० वर्ष मानते है। यह अस्वा-

---

* ऐ० वि० इ० आ० १९३५, पृ० १।

† आ० स० रि० १९२९-३०, पृ० १३२।

भाविक नहीं जान पड़ता जब कि हम देखते हैं कि तक्षशिला के कई नगर ३०० वर्ष के अंदर ऊपर उठे और गिरे। मि० मैके ने मोहे जो दड़ो नगर के काल को पहले निम्नलिखित भागों मे बाँटा था :—

१—प्रारंभिक युग (ई० पू० ३२५०)
२—मध्य " (" ३०००)
३—अंतिम " (" २७५०)

डा० फ्रैंकफोर्ट को जो मुद्राएँ टेल आज्मेर मे मिली है वे सिंधु सभ्यता की समकालीन हैं। टेल आज्मर मे प्राप्त एक मुद्रा तो निस्संदेह भारतीय है। इसमे अंकित पशु, हाथी, घोड़ा, घड़ियाल, मछली, नीलगाय, आदि आदि पशु सुमेर तथा अक्केडियन मुद्राओं मे कभी चित्रित नहीं किए गए। यह भारतीय आदर्श की मुद्रा जिस तह पर पाई गई है, उस तह की अन्य वस्तुएँ अकड्ड राज्य (ई० पू० २५००) के लगभग की है। इस नई प्राप्ति के आधार पर मि० मैके अब कहते है कि मोहे जो दड़ो का अंतिम युग ई० पू० २५०० के लगभग था*। फिर सर लियोनार्ड वुल्लो को उर की सबसे नीची सतह पर सिंधु लिपि की एक मुद्रा प्राप्त हुई। किश की अनेक कब्रों मे भारतीय आदर्श की कार्निलियन गुरियाँ मिली हैं। उर की नीची सतह की आयु ई० पू० २७५० मानी गई है। इसके अतिरिक्त मोहे जो—

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ७।

दड़ो में नीले मुलायम पत्थर का टुकड़ा प्राप्त हुआ है। इस पर चटाई के रेशों के सदृश जो अलंकरण है वह टेल आज्मर, सूसा तथा किश में प्राप्त वर्त्तनों पर भी मिलता है। इसमे संदेह नहीं कि मोहें जो दड़ो में यह पत्थर का टुकड़ा बाहर से आया है। टेल आज्मर के वर्त्तनों की आयु ई० पू० २८०० से ई० पू० २५०० और किश की ई० पू० २८०० के लगभग की हैं। सूसा के वर्त्तनों की आयु विवादग्रस्त है। किंतु संभवतः ये भी ई० पू० २७०० के निकट के होंगे। यदि इसी सन् को हम मोहें जो दड़ो का प्रारंभिक युग मानें तो फिर मोहें जो दड़ो नगर की आयु कुल ३०० वर्ष ही ठहरती है।

सर जॉन मार्शल ने अपनी बृहत् पुस्तक में आर्य्य तथा मोहें जो दड़ो निवासियों की संस्कृति तथा सभ्यता में उचित भिन्नता दिखलाई है। हमें तो सर मार्शल की धारणा कि आर्य भारत में ई० पू० १५०० में आए, सारहीन मालूम होती है। उनसे पहले के कतिपय श्रेष्ठ विद्वान् आर्यों के आगमन-काल को कभी इतने निकट नहीं लाए। श्री लोकमान्य तिलक ने वेद-युग का प्रारंभ ई० पू० ६००० से माना था। डा० विंटरनिट्ज का मत है कि वेद का प्रारंभ ई० पू० २००० वर्ष या ई० पू० २५०० वर्ष के लगभग हुआ और इसकी समाप्ति ई० पू० ७५० या ५०० के लगभग हुई*। डा० बूहलर के मतानुसार वेद

* विंटरनिट्ज—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द १, पृ० ३१०।

का युग ई० पू० २००० वर्ष के पहले प्रारंभ हो गया था*। अन्य विद्वानों की धारणाओं पर भी विचार कर यह कहा जा सकता है कि वेद के युग का प्रारभ भारत मे ई० पू० २५०० के लगभग हो गया था†।

यदि यही समय हम आर्यों के भारत-आगमन का मान लें तो आर्यों ने मोहें जो दडो सभ्यता को पूर्ण यश और ऐश्वर्य्य मे देखा होगा। हडप्पा तो शायद मोहें जो दड़ो के नष्ट होने के कई सौ वर्ष बाद तक भी रहा होगा। इस बात की पुष्टि हड़प्पा के एक शव-स्थान से होती है। इस शव-स्थान को श्री वत्स मोहे जो दडो की सभ्यता के बाद का बतलाते हैं। इस शव-स्थान पर प्राप्त मिट्टी के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए हैं। उस समय सिधु सभ्यता अवनति की ओर चली जा रही थी और लोग सस्ते से सस्ते बर्तन बनाना चाहते थे। यह शव-स्थान भी विचित्र है और इसमें प्राप्त खोपड़ियाँ भी बाहरी जाति के लोगों की हैं‡।

सर जॉन मार्शल कहते हैं कि मोहें जो दड़ो सभ्यता आर्य सभ्यता से भिन्न थी। वे कहते हैंकि "आर्य लोगों को शहरों का ज्ञान न था। वे खेतिहर लोग थे। वे शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे,

---

*इडियन एेंटिक्वेरी, १८९४, पृ० २४५।

† इ० हि० क्वी०, मार्च १९३२, पृ० १५२।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० २३४-३५।

उन्हे मछली से घृणा थी तथा वे गाय के उपासक थे।" एक लेख मे डा० नरेंद्रनाथ लॉ ने मार्शल की धारणा का खडन किया है*। डा० लॉ कहते है कि मार्शल का कहना कि वैदिक आर्यों को शहरों का ज्ञान न था, युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। वैदिक आर्य सचमुच नगरों से परिचित थे। ऋग्वेद मे वर्णित 'पुर' नगर को ही सूचित करते है। डा० कीथ का कहना कि 'पुर' का अर्थ मिट्टी, लकड़ी तथा पत्थरों का किला है, उचित नहीं है। ऋग्वेद मे किले के लिये 'दुर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है†। एक स्थल पर तो दुर्ग तथा पुर शब्द साथ साथ प्रयुक्त हुए है‡। अन्य बातों मे डा० लॉ की धारणाएँ हमे मान्य नहीं है। वास्तव में 'मान लेने' से ही इतिहास मे किसी घटना की सत्यता प्रमाणित नहीं होती।

सर जॉन मार्शल की यह धारणा स्पष्ट नहीं है कि मातृदेवी वैदिक युग मे गौण रूप मे थी। ऋग्वेद मे अदिति, पृथ्वी आदि आदि शब्द मातृदेवी को ही सूचित करते हैं। मोहे जो दड़ो मे मातृदेवी के अनेक खिलौने प्राप्त हुए है किंतु उनसे मातृदेवी का देवताओं के बीच प्रधान स्थान किसी भाँति सिद्ध नहीं होता। हाँ, यह मानने के लिये हम तैयार है कि मोहे जो दड़ो मे मातृदेवी की पूजा का अधिक प्रचलन था।

* इ० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० १२१-१६४।

† ऋग्वेद, ५, ३४, ७।

‡ आ० स० मे०, न० ३१, पृ० ४।

इस विवाद को एक ओर रखकर यह कहा जा सकता है कि मोहें जो दड़ो की सभ्यता वास्तव मे अनार्य सभ्यता थी। गाय आर्य लोगों की संपत्ति थी, किंतु सिंधु प्रांत की किसी भी मुद्रा पर इसका चित्रण नहीं है। उसी प्रकार घोड़े का भी सिंधु प्रांत मे अभाव है जिसने कि अश्वमेध यज्ञ के कारण इतनी ख्याति प्राप्त की थी। यदि इस पशु की कुछ हड्डियाँ प्राप्त भी हुई है तो वे बहुत ही कम हैं। फिर आर्य लोग खेतिहर थे किंतु मोहे जो दड़ो निवासी व्यापारी थे।

ऋग्वेद के मंत्रों से उस काल की राजनैतिक परिस्थिति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हम केवल इसमे १० राजाओं के साथ सुदास के युद्ध का वर्णन पाते हैं। यह युद्ध बाद को ब्रह्मावर्त मे रहनेवाले भारत तथा उत्तर पश्चिम भाग से आनेवाले लोगों के बीच हुआ था। सुदास भारत लोगों का ही राजा था। इसी लड़ाई के सबध मे कुछ जातियों के नाम भी आए है। सुदास ने परुष्णी (रावी) के तट पर १० राजाओं की सम्मिलित सेना को हराया था—

दश राजानः समिता अयज्यवः
सुदासमिंद्रा वरुणान युयुधः
(ऋ० ७, ८८)

ऋग्वेद में असुर जाति का भी यत्र तत्र वर्णन है। प्राग् द्रविड़ काल की असुर नामक जाति अभी तक राँची के जंगलों मे पाई जाती है। मुंडा परंपराओं में भी असुर नाम वर्त्तमान

है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि कालातर मे ये लोग भारत के पूर्वी प्रातों मे बस गए थे, किंतु इनका केंद्र सिंधु नदी के मुहाने पर ही रहा।

ऋग्वेद मे दास या दस्यु तथा आर्यों के बीच युद्ध का उल्लेख है। दास या दस्यु कही पर तो आकाशी जीव तथा कहीं पर साधारण मनुष्य माने गए है। आर्यों तथा दस्यु लोगों के बीच इसलिये युद्ध होता था कि दस्यु आर्यों के देवी-देवताओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे और न उनकी अन्य पूजा-सबंधी प्रणालियो को ही मानते थे। ये कृष्ण वर्ण के लोग थे। आर्यों ने इन पर विजय प्राप्त की थी*।

श्री दत्त के अनुसार दस्यु लोग द्रविड वर्ग के थे; क्योंकि द्रविड लोगों का रग काला था तथा नाक चिपटी थी। द्रविड़ लोग किसी समय पजाब मे रहते रहे होंगे। इसका प्रमाण बलूचिस्तान की ब्राहुई जाति से भी मिलता है†।

इसी प्रकार पणि लोग भी आर्यों से युद्ध करते थे। यास्काचार्य के अनुसार पणि लोग व्यापारी थे‡। ये लोग भी ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा नहीं देते थे और न वैदिक हवनों तथा यज्ञों की महत्ता को ही स्वीकार करते थे।

---

* कै० हि० इ०, जिल्द १, पृ० ८४-८५।

† दत्त—दि आर्यनाईजेशन ऑव इंडिया, पृ० ७७।

‡ यास्काचार्य—निरुक्त, ६, २७।

श्री रामप्रसाद चंदा के मतानुसार आर्यों ने पाणि लोगों पर धावा किया था। ये पाणि लोग ही सिंधु प्रांत के मूल निवासी थे। मोहे जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता एक व्यापारी सभ्यता थी। आर्यों के द्वारा ही यह सभ्यता नष्ट हुई थी* ।

समय समय पर हम देखेंगे कि सुमेर तथा भारतवासियों मे अनेक समानताएँ थीं। वूली महोदय के मतानुसार सिंधु तथा सुमेर सभ्यताएँ एक ही मूल से निकली है। यह मूल सभवतः फरात तथा सिंधु नदी के बीच मे कहीं पर था† । डा० हॉल की धारणा है कि सुमेर तथा द्रविड़ जातियाँ एक ही थी। उनका कहना है कि सुमेर-निवासी भारत ही से बाहर गए थे। इसके प्रमाण वे बलूचिस्तान के 'ब्राहुई' लोगों से देते है। डा० हॉल यह भी कहते है कि बाहर फैलने मे ये लोग इलम आदि आदि स्थानों मे मुद्राएँ छोड़ते गए‡। सुमेरु लोग अवश्य व्यापारी थे। खाफेजी के किले तथा असूर के ईश्तर-मंदिर मे सुमेर आदर्श की सैकड़ों वस्तुएँ मिली है। यहाँ पर शायद सुमेरु लोगो का एक उपनिवेश था। सिंधु प्रात तथा सुमेर के निवासियों की कतिपय बातों मे समानता देखकर तो

---

* आ० स० मे०, नं० ३१, पृ० ५।

† वूली—दि सुमेरियन्स, पृ० ६।

‡ हौल—ऐंशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० १७३-७४।

हम मि० चाईल्ड के साथ स्वीकार करते है कि सिंधु-प्रांत तथा सुमेरु लोगों का अवश्य जातिगत सबध था* ।

अब हम नरवंश विद्या के आधार पर यहाँ के निवासियों के विषय मे जानकारी प्राप्त करेंगे। अब तक मोहे जो दड़ो और हड़प्पा मे लगभग २४ खोपड़ियाँ मिली है। इनमे चार जाति के लोग हैं :—

(१) काकेशिया या आस्ट्रिया निवासी ।

(२) भूमध्यसागर तटवर्ती निवासी।

(३) मगोलिया या आरमीनिया निवासी ।

(४) आल्पस जाति के लोग ।

डा० बी० एस० गुह इनके विषय मे लिखते है—"प्रस्तर ताम्र युग मे सिंधु नदी की घाटी मे छोटे कद, लबे सिर, पतली तथा ऊँची नाक और लबे चेहरे के लोग रहते थे, किंतु ये बलवान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त लबे चेहरेवाली एक और जाति थी। इस जाति के लोग कद मे अधिक लबे थे। .. .. तीसरी जाति के लोगों के सिर चौडे होते थे। उनकी नाक पैनी होती थी। इनके सिर का पृष्ठभाग कभी गोल और कभी चिपटा रहता था। ये तीनों जातियाँ अल उबेद तथा किश मे भी रहती थीं। इससे जान पड़ता है कि प्रस्तर ताम्र युग

---

* चाईल्ड—दि मोस्ट एंशेंट ईस्ट, पृ० २११ ।

मे मेसेपोटेमिया (प्रीसारगोनिद युग) तथा सिंधु प्रांत का जातिगत संबध था*..."।

सिंधु प्रांत मे बाहर से आने के अनेक रास्ते थे। यहाँ पर अवश्य बाहरी जातियाँ आकर बसी होगी। हडप्पा मे तो अवश्य ही कुछ जातियाँ बाहर से आकर बसी थीं। मोहे जो दड़ो की आयु सर जान मार्शल ५०० वर्ष तथा मि० मैके ३०० वर्ष मानते है। किंतु यह सभ्यता हमारे सम्मुख परिपक्व रूप में आती है। इसका जन्म तो न जाने किस युग मे हो गया था। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि मोहे जो दड़ो मे कोई विशेष जाति नहीं रहती थी। भिन्न भिन्न जातियों के लोगों ने बाहर से यहाँ आकर अपनी-अपनी रीति तथा रस्मों का प्रचार किया होगा†। अनेक मिश्रित तत्त्वों के समन्वय से फिर यह सभ्यता बनी होगी। संभवतः आर्यों से पहले ही यहाँ भारतीय सुमेरु, द्रविड़, प्रागद्रविड तथा मगोलियन संस्कृतियों ने एक सार्वजनिक सभ्यता का निर्माण किया था‡। किंतु बाहरी तत्त्वों के होते हुए भी सिंधु सभ्यता का विशिष्ट

---

* ऐन आउटलाइन ऑव फील्ड साईनसेज इन इंडिया, पृ० १२७।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०६।

‡ रंगाचार्य—हिस्ट्री ऑव दि प्री-मुसलमान इंडिया, जिल्द १, पृ० १६३।

व्यक्तित्व था। संभवतः बाहर से आई हुई जातियों ने शताब्दियों तक, सिंधु-प्रांत में निवास करने के पश्चात् भारतीय तत्त्वों को मिलाकर एक उच्च संस्कृति की सृष्टि की थी। कराची, कलकत्ता तथा बंबई की तरह मोहे जो दड़ो भी एक व्यापारिक केंद्र था। पश्चिमी तट तथा दक्षिण भारत के साथ संबंध होने के कारण यहाँ की सभ्यता में "आस्ट्रिया एशिया" तत्त्व आया। मंगोलियन लोग शायद उत्तर-पूर्व से तथा चौड़े माथेवाली जाति मध्य एशिया की पहाड़ियों से सिंधु-प्रांत में आई रही होगी*।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ३६।

तृतीय अध्याय

(१) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत में किसी समय अच्छी वर्षा होती थी। किसी नगर का सुखी जीवन बहुत कुछ प्राकृतिक सुविधाओं पर ही निर्भर रहता है। लोगों की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ है उर्वरा भूमि तथा जल। मोहे जो दडो की खुदाई मे गेहूँ तथा जौ मिले है। इस गेहूँ तथा जौ के दाने खूब बडे बडे होते थे। गेहूँ तो उसी जाति के थे जैसे आज-कल भी पंजाब मे उगाए जाते हैं किंतु उस तत्त्व और आकार का जौ पंजाब मे आजकल नही दीख पडता। चावल का भी प्रयोग होता रहा होगा। और यह उसी आकार का रहा होगा जिस आकार के चावल आजकल भी लरकना जिले में उगाए जाते हैं। हडप्पा के लोग फलियाँ, खजूर, तिल तथा तरबूज से भी परचित थे। खजूर के बीज हड़प्पा मे नही मिले हैं किंतु इन बीजों का चित्रण यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर दीख पडता है। लबे नींबू की आकृति का एक झुमका मिला है जिससे अनुमान किया जाता है कि वहाँ के निवासी लंबे नींबू को भी जानते थे*। इसी प्रकार भिन्न

---

* वत्स—ग० ह० पृ० ४६८।

भिन्न रंगों से सुसज्जित एक मिट्टी के वर्त्तन पर नारियल तथा अनार जैसा चित्रण है।

पशुओं के दूध और घी से लोग परिचित थे। हरी तरकारी और शाक भाजी का भी लोगों को शौक था। सुंदर मिठाई या रोटी बनाने के ढाँचे खुदाई में मिले है। अनाज कूटने के लिये ओखलियाँ तथा गेहूँ आदि पीसने की पट्टियाँ भी प्राप्त हुई है। अनाज रखने के लिये गुदामघरों मे बडे बड़े घडे रक्खे जाते थे। ये घडे खडित अवस्था मे पाए गए हैं। जिन घडों की ऊँचाई चौडाई से कम थी उनके मुँह चौडे होते तथा जो घडे लंबे होते उनका मुँह कम चौडा होता था। इन घडों का तला समतल नहीं होता था, और ये किसी आधार पर टिकाए जाते थे। आधार लकडी या पत्थर के बनते रहे होंगे। कुछ छोटे घडो के गलों पर छिद्र से हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन छिद्रों मे रस्सी डालकर ये लटकाए जाते रहे होंगे या इनके ऊपर ढक्कने बाँधे जाते रहे होंगे। अनेक घडों पर सुंदर फिसलनेवाली पालिश है। इस फिसलनेवाली पालिश पर शायद चूहे नही चढ सकते थे। गरीब लोग साधारण लिपे हुए गड्ढों मे ही अनाज रखते थे*। कुछ प्राप्त खोपडियों के दाँत घिसे तथा टूटे मालूम होते हैं। संभवत: पिसाई करते समय आटे मे पत्थर के कण आदि मिल

---

* मैके— इ० सि० पृ० १५६।

जाते थे। रोटियाँ खाते समय ये कण दाँतों को हानि पहुँचाते रहे होंगे* ।

गाय, शूकर, घड़ियाल, कछुवे, पंडूक, भेड़ और मछली का मांस मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के भोजन का मुख्य अग था। घोंघे के अंदर के भाग को भी लोग खाते थे। उनके लिये ताजी तथा सूखी मछली उपलब्ध थी। ताजी मछली तो सीधे सिधु नदी से तथा सूखी मछली समुद्र से आती रही होगी। मांस काटने के लिये चकमक पत्थर के औजार बनाए गए थे।

ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक भारत मे पशु-मांस भोजन का किसी न किसी रूप में अग रहा है। वैदिक युग के हवनों मे तो देवी देवताओं को अनेक प्रकार का मांस भेंट किया जाता था। महाकाव्य काल मे भी लोग मांस भक्षण करते थे। महाभारत मे एक स्थान पर एक मांसविक्रेता लोगों से कहता है कि वह केवल मांस को बेचता है, पशुओं की हत्या और लोग करते हैं† । किंतु विशद मांस के भोजन का अंत बौद्ध धर्म स्थापन के साथ ही हो गया था। उधर गीता के प्रसिद्ध श्लोक "अहिंसा परमो धर्मः" का भी जनता पर प्रभाव पड़ा। गुप्त काल में फाहियान लिखता है कि जनसमाज मे कोई हिंसा नहीं करता

---

* मैके—फ० य० मो० पृ० ४९ ।

† महाभारत, ३, २०७, १० फु० ।

था। केवल चांडाल ही शिकार खेलते तथा मांस विक्रय करते थे*। सिंधु प्रांत में मनच्छर सरोवर के निकट एक वर्ग के ऐसे लोग रहते थे, जिनका भोजन केवल सरोवर के पशु-पक्षी थे। इस सरोवर के निकट उपजाऊ भूमि नहीं है। इस कारण इधर बसे लोग प्रधानतया मांसाहारी ही थे। यहाँ पर लोगों की बस्ती सिंधु-सभ्यता के अंतिम भाग में रही होगी†।

नागरिक जीवन की उच्च सीढ़ी पर पहुँचकर यह स्वाभाविक था कि वहाँ के लोग दावत आदि का समय समय पर प्रबंध करते। इस नगर में दावतों के कई उपयुक्त अवसर आया करते रहे होंगे। त्योहार तथा विवाहादि के अवसरों पर हितैषी, मित्र और संबंधी आमंत्रित किए जाते रहे होंगे। मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में प्याले, थाली, चम्मच आदि बड़ी संख्या में मिले हैं। मिट्टी के आधार पर स्थित तश्तरियाँ भी मिली हैं। इन तश्तरियों पर दावतों में फल रखे जाते होंगे। घोंघे के बड़े बड़े आकार के चम्मच भी मिले हैं। ये चम्मच हवनों या दावतों में दाल वगैरह देने के काम आते थे। कुछ प्याले रखने की बड़ी तश्तरियाँ भी खुदाई में मिली हैं। इनके कई भाग किए गए हैं। मि० मैके का अनुमान है कि इनमें नाना प्रकार की दाल रक्खी जाती थीं। भारत में आजकल भी ऐसी

---

* फाहियान—यात्रा-वृत्तांत, पृ० ३१।

† आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ६५।

थालियाँ होती हैं जिन पर शाक, भाजी तथा दाल के लिये कटोरियाँ जुडी होती हैं। कुछ छोटे वर्त्तुलाकार, छिद्रवाले बर्तनों से मालूम होता है कि वे हाथ धुलाने के बर्तन थे। घोंघे की तश्तरियाँ मिट्टी की तश्तरियों से कहीं अधिक हैं। ताँबे और पीतल के बर्तनों का प्रयोग भी होता था। गरीब लोग भूमि पर बैठकर और धनी लोग चौकियों पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे।

पशु-पंजरों से ज्ञात होता है कि वहाँ के लोग पशु-पालन के भी शौकीन थे। सिधु प्रांत मे बहुत पहले से पशुओं को पाला जाता था। कहा जाता है कि इस प्रांत से बाहरी देशों तक को पशु भेजे जाते थे। कूबडदार बैल की उत्पत्ति तो निस्सदेह सिंधु प्रांत में हुई है और यहीं से इस नस्ल के बैल भारत के अन्य भागों मे भी गए थे*। अब तक बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता तथा ऊँट के पंजर मोहे जो दडो मे मिले हैं। जगली पशुओं मे काली बिल्ली, हिरन, नील गाय, बंदर, भालू तथा खरगोश की हड्डियाँ मुख्य हैं। कुत्ते का चित्रण तो हम मुद्राओं पर प्रायः देखते हैं। कुछ ईंटों पर भी कुत्ते के पंजों के चिह्न है। आज दिन भी कुत्ता मनुष्य का परम भक्त और सगी माना जाता है। हड्डियों से ज्ञात हुआ है कि सिधु प्रात मे

* इस विषय पर डा० वेणीप्रसाद का लेख जो कलकत्ता रिव्यू जनवरी १९२५ के अंक मे प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

दो जाति के कुत्ते थे। एक तो उसी जाति का था जिस जाति के साधारण कुत्ते आजकल भी गावों मे पाए जाते हैं। दूसरी जाति का कुत्ता बुलडॉग वर्ग का था। इस कुत्ते का रग भूरा होता था। मिट्टी के एक खिलौने से पता लगता है कि कुत्ते शिकार खेलने में भी काम आते थे। हडप्पा से प्राप्त एक माडल कुत्ता अपने दाँतों से खरगोश को पकडे हुए है। सिकदर जब भारत में आया था तो राजा सौभूति ने कुत्तों का एक सुदर प्रदर्शन किया था। इसमें कई जाति के कुत्ते थे*। घोडे की भी वही जाति थी जो अब तक पश्चिमी सीमा प्रांत मे पाई जाती है। खेद है कि घोडे का प्रत्यक्ष चित्रण किसी मुद्रा पर नहीं दीख पडता। मिट्टी मे बना, घोडे की तरह का एक खिलौना है†। इसके या तो कान थे ही नहीं या वे बहुत छोटे बनाए गए थे। मि० मैके इसे ठीक घोड़े का नमूना नहीं मानते किंतु अन्य विद्वान् इसे घोडा ही मानते है। सर औरियल स्टाईन को भी बलूचिस्तान मे कुछ ऐसे खिलौने प्राप्त हुए थे। मद्रास म्यूजियम मे रक्खे कुछ खिलौनों से भी इनकी तुलना हो सकती है‡। सिध के बैल उत्तम जाति के होते थे। उनकी मांस-पेशियाँ कितनी दृढ तथा

---

* मेगेस्थनीज फ्रैगमेंट्स पृ० ६।

† आ० स० रि० १६२८-२६, पृ० ७४।

‡ फुट–कैटलॉग ऑव दि प्रीहिस्टौरिक एंटिक्विटीज इन दि मद्रास म्यूजियम, पृ० ४८-४९।

शरीर कितना सुडौल होता था यह मुद्राओं में चित्रित बैलों से ज्ञात होता है। अभी तक सिंध मे बहुत अच्छी नस्ल के बैल मिलते हैं। इन शानदार बैलों की नस्लों की रक्षा तथा पालन की कैसी सुंदर व्यवस्था सिंधु प्रांत मे थी, इसका अनुमान पशुओं के सुदर ढाँचों से किया जा सकता है।

कताई बुनाई के काम के दमकडे गरीब तथा अमीर दोनों के घरों में मिले हैं। इनमे कुछ तो फियांस (नफीस मिट्टी) के तथा कुछ साधारण मिट्टी के बने हैं। इन दमकड़ों में दो या तीन तक छिद्र हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मोहे जो दडो में कताई बुनाई का अच्छा प्रचार था। एक बडी महत्त्वपूर्ण वस्तु जो मोहे जो दडो में प्राप्त हुई है वह सूत के कपड़े का एक टुकड़ा है। सन् १९२६ की खुदाई मे रा० ब० (अब स्वर्गीय) श्री दयाराम साहनी को सूत के कपड़े मे लिपटी एक कलसी मिली थी। इस कलसी के अंदर कई बहुमूल्य गहने थे। इस टुकड़े की परीक्षा बंबई की भारतीय सूत की प्रयोगशाला मे हुई। मि० टर्नर ने इसकी जाँच की और प्रमाणित किया कि यह कपड़ा विशुद्ध भारतीय सूत का बना है। स्मरण रहे कि मोहे जो दड़ो की समकालीन सभ्यताएँ केवल अतसी (फ्लैक्स) से ही परिचित थीं। इसके बाद मि० मैके को भी सूत के कुछ धागे तथा कपडे के टुकडे प्राप्त हुए। ये कपड़े ताम्र की कुछ वस्तुओं पर लपेटे हुए थे। कदाचित् इन वस्तुओं की रक्षा के लिये ही यह कपड़ा बाहर से लपेटा गया था। ये

कपड़े भी शुद्ध भारतीय कपास से बने है। तीन बर्तनों पर चिपका कपड़ा तो छाल के रेशों से बना है।* कुछ सूत के टुकडों पर मंजीठ का रग भी चढाया गया था।

खेद है कि हडप्पा की खुदाइयो मे कोई कपडा प्राप्त नहीं हुआ है, किंतु वहाँ के निवासी अवश्य बुने कपडों का प्रयोग करते थे। बुने कपड़ों की छाप हडप्पा के कुछ फियास के बने बर्तनों के अंदर तथा मिट्टी की ईंटों पर दीख पड़ती हैं†।

वैराट (जयपुर) की खुदाई मे फिर रा० ब० साहनी ने एक सूत का कपड़ा प्राप्त किया। इस कपडे के अंदर कुछ सिक्के रक्खे थे। यह कपड़ा ईसा की पहली शताब्दी का है‡।

भारत मे कपास की कताई-बुनाई का प्रारंभ कब से हुआ, इसका पता नहीं है। कताई-बुनाई के दमकडो का वर्णन तो ऋग्वेद काल से लेकर सूत्रकालीन साहित्य तक मिलता है। ऋग्वेद मे वर्णित शब्द 'वाय' सूत कातने ही से संबंध रखता है। यह ज्ञात होता है कि उस काल मे स्त्रियाँ भी सूत कातती थीं। अनेक स्थलों पर उनके लिये 'सिरी' तथा 'वायित्रि' शब्द प्रयुक्त हुए हैं§। किंतु ऋग्वेद मे ऊन तथा रेशम ही का वर्णन है।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ५६१।

† वत्स—य० ह०, पृ० ४६६।

‡ साहनी—यक्सकावेशन्स ऐट वैराट, पृ० २२।

§ ऋग्वेद १०, ७१, ६।

शतपथ ब्राह्मण १३, १, २।

ऊन पहले तो बकरी के चर्म से निकाला जाता था, पर पीछे भेड़ की ऊन का व्यवहार होने लगा था। रेशम कई प्रकार का होता था—यथा तार्प्य और क्षूम*। कपास का सर्वप्रथम उल्लेख हम 'अश्वलायन गृह्य सूत्र' मे पाते है। यूनान, रोम तथा यहूदी लोग कपास को उसके संस्कृत नाम 'कार्पास' से ही जानते थे। इसमें सदेह नहीं कि कपास की सर्वप्रथम उत्पत्ति उत्तर भारत में हुई थी†।

मोहे जो दड़ो में पहनने का कोई वस्त्र नही मिला है। दो चार खडित मूर्तियों तथा खिलौनों के वेशों से ही हम यहाँ की वेश-भूषा के विषय मे थोड़ा बहुत जान सके है। कुछ स्त्रियों की मूर्तियों पर पंखे की तरह का विचित्र शिरोवस्त्र दीख पडता है। यह शिरोवस्त्र पीछे से शायद किसी नारे द्वारा बाँधा जाता था। इस ढंग की शिरोभूषा संसार के अन्य किसी देश मे देखने को नहीं मिलती। मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा में यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है जिनको कि पुरातत्त्व पंडित मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते हैं। कुछ मूर्त्तियों मे सिर के दोनों ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं (चित्र सं० ७)। शायद इन पर घी, मक्खन आदि रखकर जलाया जाता रहा होगा‡। क्योंकि शिरो-

* अथर्ववेद—१८, ५, ३१।
मैत्रिय सहिता—३, ६।

† जयचद्र विद्यालंकार—भारतभूमि व उसके निवासी, ६० ३१।

‡ मैके—फ० य० मो०, पृ० २६०।
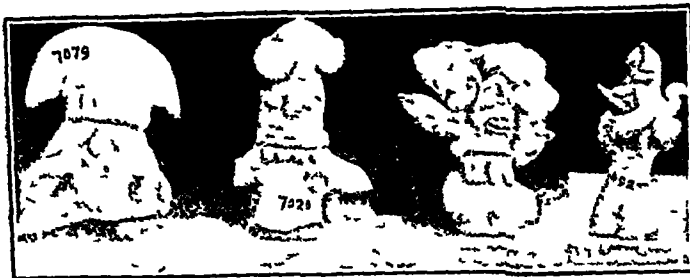
चि० स० ६

चि० स० ७

वस्त्रों पर कुछ धुएँ की लपटों के चिह्न हैं। मातृदेवियों की मूर्त्तियाँ केवल एक पटका पहने है (चित्र स० ४)। उनके शरीर के अन्य भाग नग्न है। केवल एक उदाहरण मे शरीर पर सघाटी सी है। शायद सघाटियाँ शीत आदि से बचने के लिये पहनी जाती थीं।

पुरुष प्राय: शाल की तरह के कपडे को शरीर पर लपेटते थे। यह शाल बाएँ कुहने के ऊपर तथा दाएँ हाथ के नीचे होकर शरीर पर पडा रहता था। इसके नीचे भी कोई वस्त्र पहना जाता था या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमे नहीं मिल सका है। सभवत: यह शाल किसी पिन से शरीर पर बाँधा जाता था। मेसोपोटेमिया की कई कब्रों मे अस्थिपंजरों की बाँहों के निकट पिने प्राप्त हुई थी। वूली महोदय का कहना है कि उस काल मे शरीर का बाहरी वस्त्र सिला नहीं होता था। शरीर पर लपेटकर यह कपडा पिन से बाँध दिया जाता था*। उर मे भी जो ऐसी पिनें मिली है, वे भी कुचली हुई खोपडियों के निकट पडी थीं†। मि० मैके कहते है कि ये पिने वास्तव मे सिरों पर लगाने की है। किश की खुदाइयों से तो यह प्रमाणित हो ही गया है कि ऐसी पिनें केवल सिर पर लगाई जाती थीं‡। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आव-

---

* वूली—'डिगिग ऑव दि पास्ट' पृ० १०४-५।

† वूली—रॉयल सिमेट्री, पृ० २३९।

‡ ऐंटिक्वेरीज जर्नल, जनवरी १९२९, पृ० २९।

श्यक है कि गढ़वाल प्रदेश मे अभी तक एक दो पट्टियों मे लोग सिले कपडे नही पहनते। वे बाहर से भाँग के रेशों से बनी चद्दरें (त्यूँ-खे) तथा पतले ऊनी कंबलों को पहनकर फिर उन्हे पिनों से बाँध देते है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु प्रांत निवासी रँगाए हुए कपडों को भी पहनते थे। यहाँ के कुछ फर्शों पर ऐसे मिट्टी के बरतन जड़े थे, जिनमे शायद रंग भरा जाता था। इनमें ही रँगने के लिये कपड़े डुबोए जाते रहे होंगे। इन बरतनों के मुँह के चारों ओर ईंटें लगी थीं*।

एक मृण्मूर्त्ति मे एक स्त्री कंबल की तरह किसी कपड़े से शरीर को लपेटे है। कदाचित् इस प्रकार का कोई वस्त्र शीतकाल में ओढ़ा जाता रहा हो।

गरीब और धनी व्यक्तियों की वेश-भूषा मे बड़ा अंतर रहा होगा। गरीब लोग तो साधारण कपड़े पहनते तथा धनी लोग कला-पूर्ण या शिल्प-सुसज्जित कपड़े पहनते थे। मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों को नाना भाँति के केश कलापों से प्रीति थी। बाल प्रायः पीछे की ओर ले जाकर जूड़े या चोटी मे गूँथे जाते थे। कुछ मूर्तियों मे बाल कटे से मालूम देते हैं। शायद उस समय भी 'बाब्ड' ढग के बाल रखने की प्रथा थी। एक दो उदाहरणों मे बाल बिना गूँथे या बिना बाँधे पीछे की

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० १९७।

ओर छोड दिए गए है। बालों को बाँधने के लिये नारों का प्रयोग होता था। ये नारे प्राय: बुने रहते होंगे क्योंकि कुछ नारों मे गाँठे दीखती है। सोने के बने नारे भी प्रचलित थे। इनका प्रयोग सपन्न घरानों के लोग ही कर सकते रहे होंगे। साधारणतया सोने के नारे १६ इंच लंबे और ½ इंच चौडे है। सिर पर शायद टोपी आदि भी लगाई जाती थी।

केश-रचना की यह सुंदर परपरा अजता, इलौरा, बाघ तथा त्रावणकोर के भित्तिचित्रों मे भी पाई जाती है। किंतु समयानुसार नवीन और प्राचीन ढंगों मे अंतर हो गया है। मोहे जो दडो केशकला प्राचीन काल की है; अजता और इलौरा की नवीन युग की। किंतु दोनों युगों की कलाएँ सौदर्य्य-प्रेम का परिचय देती हैं।

पुरुष छोटी छोटी दाढ़ियाँ रखते थे। ओंठ का ऊपरी भाग प्राय: साफ रहता था। ऐसी प्रथा अभी तक दाढी रखनेवाले मुसलमानों मे भी पाई जाती है। सुमेर के लोग भी ओंठ का ऊपरी भाग साफ रखते थे। एक मूर्ति की दाढ़ी इतनी कसी है कि ऐसा मालूम होता है कि उस समय लोग दाढियों पर मरहम या खिजाव लगाते थे। दूसरे उदाहरण मे दाढ़ी की नोक ऊपर की ओर घुमा दी गई है। शायद ऐसी दाढियाँ किसी देवता के संप्रदाय से सबंध रखती थी*। कुछ खिलौनों मे सिर मुंडे हुए भी मालूम होते हैं।

* मैके—फ० य० मो०, पृ० २६४.

मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा मे उस्तरों की शक्ल के कई औजार मिले हैं। सबसे प्रचलित उस्तरे वे है जो दोनों ओर से काम दे सकते थे। बिल्कुल सीधे तथा सिरे पर गोलाकार नमूने के उस्तरे भी व्यवहृत होते थे। सिर मूंडने के लिये भी शायद ये ही उस्तरे प्रयोग मे लाए जाते थे।

मोहे जो दड़ो मे कुछ सुइयाँ भी मिली हैं। कुछ बडे बड़े तार ऐसे मिले है जो शायद सूजे थे जिनसे बोरे या चमड़े की वस्तुएँ सिली जाती थीं। श्री दीक्षित ने तीन स्वर्ण की सुइयाँ भी प्राप्त की थीं। इनमे एक तो केवल सजावट के लिये थी। यह संभव है कि इन मूल्यवान सुइयों का प्रयोग धनाढ्य घरों की युवतियाँ या राजकुमारियाँ ही करती रही हों। सैकडों वर्षों तक भूमि मे पड़ी रहने के कारण इन पर बुरी तरह से जंग लग गई है और इस कारण इनके वास्तविक स्वरूप को जानना कठिन हो गया है।

ताँबे के बटन भी खुदाई मे मिले है। इन बटनों का आकार बीच मे गुंबद सा है। फियांस के बटन भी चलते थे।

मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के कला-प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण उनके आभूषणों से ज्ञात होता है (चित्र स० १२)। आज तक जितनी भी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे सब आभूषणों से लदी है। स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे भी आभूषण पहिनते थे। पुरुष केवल एक मृण्मूर्त्ति मे आभूषण पहिने है। नगर के निम्न वर्ग के लोग मिट्टी या घोंघे के आभूषण
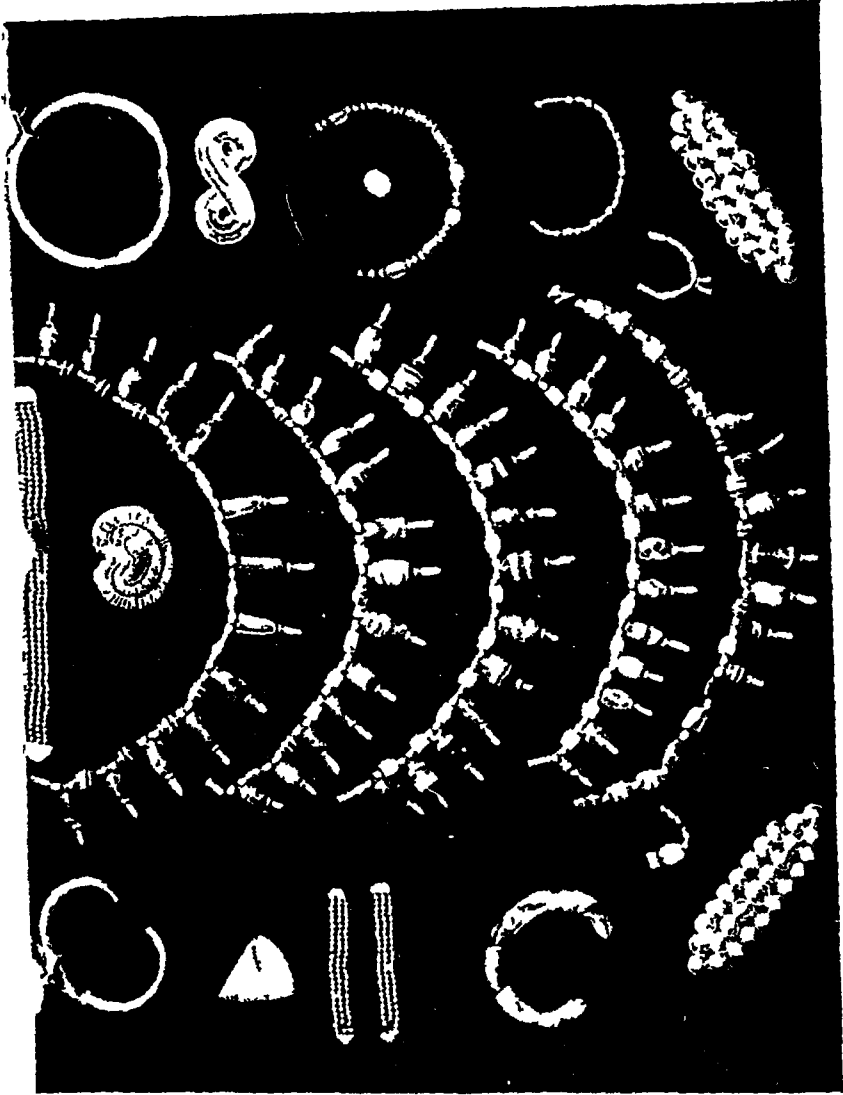
चि० स० १२

चि० सं० २६

पहिनते थे। धनी लोग सोने, हाथीदाँत तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों के बने गहने अपनाते थे। आभूषणों मे गले का हार, सिरबद, बाजूबद, करधनी, पायजेब आदि मुख्य थे। शायद गले मे हँसली भी पहिनी जाती थी।. मालाओं के अत मे लगाने के लिये सोने तथा अन्य धातुओं की पट्टियाँ बनती थीं। इन पर दो से छः तक छिद्र बने होते थे। इससे मालूम होता है कि मालाओं में कई लड़ियाँ होती थीं। कमर मे करधनी पहिनने का भी प्रचलन था। ये हारों ही की तरह होती थीं। इनमे अक़ीक़ आदि मूल्यवान् पत्थरों का प्रयोग हुआ है। अनेक हार चंदनहारों की तरह गले मे पहिने जाते थे। कडे प्रायः धातुओं के बने होते थे। चाँदी और सोने के कुछ कड़े अंदर से खाली है। इनके अदर शायद लाख की तरह कोई पदार्थ भरा जाता रहा होगा। आज कल ही की तरह उस काल के लोग भी शृंगार से विशेष रुचि रखते थे। आभूषणों को रखने के लिये शृगारदान आदि भी रहे होंगे। इन आभूषणों की सुंदरता देखते ही बनती है। गुरियों के काटने और बेधने की अनुपम युक्ति तथा नाना भाँति के रंगों के मिलान की दृष्टि से पिरोए जाने के ढग से सिंधु प्रात-निवासियों के कलाप्रेम पर सु दर प्रकाश पडता है (चि० सं० १०)। सबसे अच्छे आभूषण अभी तक चाँदी की कलसी (चि०स०२६) में श्री दीक्षित को मिले हैं। कठहारों मे सोने की प्रायः चिपटी गुट्टिकाएँ व्यवहृत होती थीं। दो साधारण कर्णफूल तथा चाँदी-

ताम्र की कई अँगूठियाँ खुदाई में निकली है। कुछ अँगूठियाँ साधारण तारों को मोड़कर बनाई गई हैं तथा कुछ के लिये केवल चपटे तार प्रयुक्त हुए है। कानों के लटकनों का अभाव दीखता है। सर जान मार्शल की धारणा है कि किसी कारण से मृत्यु के बाद कानों से लटकन निकाल दिए जाते थे*। निकट भविष्य की खुदाइयों मे शायद लटकन फिर प्राप्त हो सके। कानों के कुंडल कैसे थे इसका भी पता नहीं। एक प्रकार के कुंडल तो गुरियों मे छिद्र करके बनाए जाते थे। यह भी संभव है कि कुंडल किसी गैरटिकाऊ पदार्थ के बनते थे, या कुंडल यहाँ के निवासियों को अरुचिकर प्रतीत होते थे। बिना पालिश का एक छल्ला मिला है, जिसे कुंडल माना जा सकता है। स्त्रियाँ शायद पायजेब, झेवर आदि ढंग के गहनों को पैरों मे पहिनती रहती होंगी। एक पीतल की मूर्ति मे पैर के आभूषण हैं किंतु वे ठीक ठीक नही पहिचाने जाते। फियांस की नाक की कीलें तथा फूलियाँ भी संभवतः लोगों को ज्ञात रही हों। किंतु यह अनुमान विवादग्रस्त है; क्योंकि किसी भी मृण्मूर्ति पर नाक का आभूषण नहीं दीख पड़ता है। कई विद्वानों की धारणा है कि नाक का विशेष आभूषण मुसलमानों के आगमन के साथ भारत मे आया। इस धारणा मे अवश्य सत्यता है, क्योंकि समस्त प्राचीन संस्कृत-साहित्य की छान-बीन करने पर

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ५२८।

किसी स्थल पर भी नाक के आभूषण का वर्णन नहीं है। फिर साँची, भारूत, अमरावती तथा मथुरा की किसी भी मूर्ति मे, जो कि विभिन्न प्रकार के आभूषणो से सुसज्जित है, नाक का आभूषण नहीं दीख पडता* ।

अनेक मृण्मूर्तियों के हाथ-पैर खडित हो गए हैं इस कारण हाथ तथा पैरों के आभूषणो के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। मोहे जो दडो मे संभवतः हाथ मे पहिनने के अतक प्रचलित नहीं थे। अभी तक अंतक केवल एक पत्थर की मूर्ति के हाथ पर दीख पडा है। किसी धार्मिक सकोच के कारण शायद अतक किसी विशेष वर्ग के लोग ही पहिन सकते थे।

मिट्टी के बने अनेक बाजूबंद भी प्राप्त हुए हैं। इनमे कुछ तो बडी सावधानी के साथ पकाए गए हैं। कुछ बाजूबदों मे लिखा हुआ भी है। शायद ये बाजूबद करामाती समझे जाते थे †। त्रिकोण ढग का शिरोभूषण, जिसे चौक कहते है सिधु प्रात मे बहुत प्रचलित था। यह आभूषण हडप्पा की कई आकृतियों मे दीख पडता है। यह आभूषण फियांस, हाथी-दाँत या मिट्टी का बनता था।

---

* अल्टेकर—पोजिशन ऑव वोमेन इन हिदू सिविलाईज़ेशन पृ० २६२-६३।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ५३६।

बडे हार अधिकतर पीतल या ताम्र के हैं। गरीब लोग मिट्टी ही के हार पहिनकर संतोष कर लेते थे। गुरियों का एक दर्शनीय कंठहार प्राप्त हुआ है। कुछ कंठहारों पर लिखा हुआ भी है। इन पर शायद निर्माणकर्त्ता या वस्तु-अधिकारी के नाम खुदे है।

एक विशेष बात, जो मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा मे दीख पडती है, यह है कि यहाँ सोने की बनी (एक के अतिरिक्त) अँगूठी नहीं मिली है। अधिकतर अँगूठियाँ ताम्र की है और इनकी बनावट बिल्कुल सुमेर जैसी है। अँगूठियाँ या तो गोल डडियों या तार के छल्लों से बनती थीं। चाँदी की अँगूठियाँ भी बहुत कम थीं। चाँदी की तो सिधु प्रांत मे किसी भी प्रकार से कमी नहीं थी, फिर भी आश्चर्य होता है कि इस प्रांत के लोगों ने चाँदी की अँगूठियाँ क्यों इतनी कम बनाईं। शायद इस धातु में अँगूठियों के बनाने का निषेध रहा हो।

कई मृण्मूर्त्तियों के गले मे कॉलर के नमूने का कोई आभूषण है। एक मूर्त्ति से तो ज्ञात होता है कि यह कॉलर कई छल्लाओं से बना है। यह आभूषण गले पर कसके बँधा सा रहता है।

फियांस के कई छोटे छोटे बर्त्तन हड़प्पा व मोहे जो दड़ो मे प्राप्त हुए हैं। इनमे पीने का पानी तो अधिक मात्रा में नहीं आ सकता है इसलिये अनुमान किया जाता है कि इन पर शृंगार का कोई पदार्थ रक्खा जाता था। कुछ बर्तनों पर शायद छोटे छोटे गहने भी रखे जाते थे। आजकल भी

स्त्रियाँ छोटे छोटे गहनों को सिंदूर या पिठाई के अदर छोटी कलसियों के अदर रखती है। आज वैज्ञानिक युग मे हम क्रीम, वेसलीन, पाउडर आदि सौंदर्य्य-वर्धक पदार्थों की भरमार देखते है। किंतु प्राचीन काल के लोगों मे भी सौंदर्य्य बढाने की प्रबल इच्छा थी। हडप्पा मे बोतल के सदृश एक पात्र मिला है। इसके अंदर काई काले रंग का पदार्थ था। शायद इसमे सुरमा या अन्य ऐसा ही कोई पदार्थ रखा था*। नेत्रों पर लगाने के आँजनों को रखने के बर्तनों तथा सीकों से मालूम होता है कि स्त्रियाँ (और शायद पुरुष भी) आँखो मे काजल लगाती थीं। कई बर्तनो मे लाल महीन मिट्टी, जो कि गेरू की तरह है, मिली है। घोंघे की डिब्बियों मे यह पदार्थ रखा जाता था। यह पदार्थ सुमेर, किश, उर तथा नाल में भी प्रचलित था और निस्सन्देह प्राचीन काल के पूर्वी देशों मे रहने-वाले सभी लोग इसका प्रयोग करते थे। मेसोपोटेमिया मे भी रानी शुब-अब की कब्र पर ऐसे पदार्थों से भरी कई डिब्बियाँ मिली हैं। उनके अदर रग अब वहुत ठोस हो गए है। इनमे पीला, लाल, नीला, हरा तथा काला रग था[1]। फिर मोहेंजो दडो मे सीसे का ऐसा द्रव्य भी पाया गया है जो यूनान व चीन मे चेहरे पर श्वेत आभा लाने के लिये प्रयुक्त होता था।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३१२।

[1] वूली—दि रायल सिमेट्री, पृ० २४५।

एक प्रकार का हरा पदार्थ, जो कि ढेरों के रूप मे मोहे् जो दडो मे मिला है, संभवतः नेत्र-सौदर्य-वर्धक कोई पदार्थ था।

कुओं की बहुतायत से अनुमान किया जाता है कि सिंधु-प्रांत-निवासी निजी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देते थे। वे स्नान आदि के लिये नदी के जल का भी प्रयोग करते रहे होंगे। आज दिन स्नान ध्यान की जो विशद प्रथा भारत मे है उसका उद्गम संभवतः सिंधु प्रांत से ही हुआ है*।

पकाई हुई सैकडों मृण्मूर्त्तियाँ तथा खिलौने सिधु प्रांत में मिले है। ये बडे ही कौतूहलजनक है। आज तो ये खिलौने गैती व फावडों की ठोकरें खाते फिरते है; किंतु एक समय ये खिलौने बच्चों के स्नेह की अनुपम वस्तुएँ रही होंगी। एक बैल का सा खिलौना है। इसका सिर हिलता है। ऐसे खिलौनों का बहुत प्रचार था। एक हाथी है जिसको दबाने से विचित्र शब्द होता है। एक पशु ऐसा है जिसके सींग तथा सिर तो भेड़ की तरह है किंतु शरीर तथा पूँछ चिडिया जैसी है। इस पशु के दोनों ओर छिद्र है। इन छिद्रों पर लकड़ी डालकर या तो पहिए जोड़े जाते थे या इन छिद्रों मे रस्सी डालकर पशु को झुलाया जाता था†। सीटियाँ भी असख्य मिली है। कई

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १८।

† मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ५५०।

सीटियाँ मुर्गी तथा नाशपाती की शक्ल की है। इनके सिरे व बगल मे छिद्र है। ऊपर के छेद से बजाने तथा बगल के छिद्र को बंद करने पर विचित्र आवाज आती है। कुछ पक्षी पिंजडे मे बद दिखलाए गए है। हड़प्पा में प्राप्त कुछ पिंजडे ओखल तथा नाशपाती की शक्ल के है। एक पिंजडे मे बडा सुदर दृश्य है। इसमे एक पक्षी तो पिंजडे से बाहर निकल रहा है तथा दूसरा पिंजडे की बाहरी दीवाल पर बैठा है। ऐसा जान पडता है, कुछ पशुओं के धड ही बनाए जाते थे। इनके पैर लकडी के बनते रहे होंगे। एक पिंजडे के अदर बुलबुल जैसा पक्षी है। मिट्टी के झुनझुने भी बच्चों के बीच बहुत प्रचलित थे। इनके अदर एक से लेकर तीन तक दाने होते थे। ये झुनझुने हाथों से बनते थे। मिट्टी तथा मनुष्य-आकृति के खिलौने भी यत्र तत्र दीख पडते हैं। मि० मैके को खुदाई मे बौनों के रूप के कई खिलौने मिले थे। ऐसे बौने मिश्र मे आमोद-प्रमोद के लिये प्रयोग मे आते थे। मोहे जो दडो के ये बौने भी किसी खेल मे काम आते रहे होंगे।

घोंघे मे बने कोई मौडल खिलौने मोहे जो दडो या हडप्पा मे नही मिले है। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण इस वस्तु के खिलौने नही बनाए गए।

प्राचीन काल के लोगों ने अपने बच्चों के दिलबहलाव के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर रखी थी। वे लोग सर्वसंपन्न थे, इस कारण वे जीवन की प्रत्येक सुविधा को अपने कुटुंब के

लिये प्रस्तुत कर सकते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु प्रांत में खिलौने, आधुनिक चीन तथा जापान की तरह, औद्योगिक दृष्टिकोण से भी बनाए जाते थे।

सिधु-प्रांत-निवासी गाड़ी तथा रथ के प्रयोग से विज्ञ थे। गाडी के खिलौनों के कई पहिए हडप्पा तथा मोहे जो दडो मे मिले हैं। यह भी विशेष महत्त्व की बात है कि सभ्यता के इस काल मे भी सिधु-प्रांत-निवासी गाड़ियों से परिचित थे। पशु तथा पक्षियों की आकृति के अनेक रथ खुदाई मे निकले हैं। इनके अदर बिल्कुल खोखला है। साधारणतया रथों पर दो पहिए लगते थे, किंतु कुछ गाडियों में चार चार पहिए तक लगे थे। रथों को कौन जानवर खींचता था, यह ज्ञात नही है। घोडे की थोड़ी हड्डियाँ तो अवश्य प्राप्त हुई हैं, किंतु ये हड्डियाँ बहुत प्राचीन नहीं है। अनेक प्रमाणों से कहा जा सकता है कि सिधु-प्रांत निवासी घोडे से अनभिज्ञ थे*। एक खिलौने का पहिया तो रथ ही के साथ जुडा हुआ था। दूसरा रथ एक संदूक की तरह है। एक रथ करीब दो इच ऊँचा है। इसमे गाडीवान के बाल पीछे की ओर सुलझे हुए है। इसका चेहरा गोल तथा नाक चपटी व ऊँची है।

हडप्पा मे ताम्र की एक छोटी सुंदर गाडी मिली है (चि० स० २५)। इसको खीचनेवाला पशु तथा पहिए खो गए हैं। गाड़ी

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५०।

अगले तथा पिछले भाग मे खुली है। इसके ऊपर चँदोवा पडा है। आगे से एक ऊँचे स्थान पर गाडीवान बैठा है*। हड़प्पा से प्राप्त दूसरे उदाहरण मे एक गाडी के दोनों ओर के पहिए लकडी द्वारा थमे रहते होंगे। इन पहियो के ऊपर सामान रखने का स्थान है। इस पर चार छिद्र बने हैं जिन पर लकड़ी गाड़कर चँदोवे के लिये आधार बनते रहे होगे। गाडी के आगे एक छिद्र है जिसमे पशु बाँधा जाता होगा†। चन्हू दडो मे भी दो मिट्टी की गाडियाँ मिली है‡। इनमे, एक मे गाड़ीवान हाथ मे कोड़ा लिए हुए है। दूसरी गाडी देहाती गाडी सी मालूम देती है। संभवत: प्राचीन काल मे गाडियाँ बैलों द्वारा ही खींची जाती थीं।

प्राचीन उर के लोग रथों से अनभिज्ञ नहीं थे। उर मे प्राप्त एक पत्थर (जो किसी स्थान पर जड़ा था) पर रथ का चित्रण है। इसको पाँच गर्दभ खींच रहे है। बनावट से पता लगता है कि असल मे रथ लकडी के बनते थे। यह रथ अनुपम ढग का है और ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय उर-निवासियो के लिये रथ कोई नवीन वस्तु नहीं थी§। मि० मैके इस रथ की तुलना सिंधी गाडियो से करते है। दोनों स्थानों

---

* आ० स० रि० १९२६-२७, पृ० १०५।

† वत्स—य० ह०, पृ० ४५१।

‡ आ० स० रि० १९३५-३६, पृ० ४२।

§ गैड—हिस्ट्री ऑव मॉनूमेंट्स इन उर, पृ० २१-२३।

के पहिए लकडी के तीन हिस्सों को जोड़कर बनते थे। फिर रथ के अनेक भागों को जोड़ने के ढगों मे भी दोनों देशों मे समानताएँ दीखती है। तृतीय सहस्राब्दी में उर मे कम से कम तीन प्रकार के रथ थे* ।

मिस्र-देश-निवासियों को भी संभवतः रथ का ज्ञान था। किंतु उन्होंने इसका वास्तविक उपयोग देर मे किया। सम्राट् हिकसोस के धावे तक मिस्र की किसी भी वस्तु पर रथ का चित्रण नही मिलता है। रथ का प्रयोग वहाँ द्वितीय या तृतीय सहस्राब्दी के मध्य मे हुआ होगा† ।

हडप्पा मे प्राप्त कुछ गर्दभ की हड्डियों से ज्ञात होता है कि यह पशु सिंधु-प्रांत-निवासियों को ज्ञात था। यह पता चलाना वास्तव मे कठिन है कि यह पशु बोझा ढोने के काम आता था या नहीं। किंतु यह मान्य बात है कि प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युग में बैलगाडियों से ही बोझा ढोने का काम लिया जाता था।

बेबीलोन की सभ्यता के प्रारंभिक काल मे वहाँ के निवासी घोड़ों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। उस समय वहाँ के रथों को प्रायः गर्दभ ही खींचा करते थे‡ ।

---

* ऐंटिक्वेरीज जर्नल १९२९, पृ० २६-२७ ।

† हाल—हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, पृ० २१३ ।

‡ किंग—ए हिस्ट्री ऑव बेबिलोनिया पृ० १३६ ।

अन्य वस्तुओ मे मिट्टी की एक मोमबत्ती तथा उसी को रखने का बर्तन है। हडप्पा की इमारतों मे लैम्प रखने के लिये आधार भी बने थे। ये आधार दीवाल पर चुनी गई ईंटों के थे, जो कि दीवाल की सतह से आगे कर दी जाती थीं। ये ईंटे बीच मे गहरी कर दी गई हैं। या तो इनमे दीपक रखे जाते थे, या ये स्वय दीपक का काम देते रहे होंगे। यहाँ कुछ ऐसे भी बर्तन है जो कि दीपक का काम देते थे। ये आकार मे समचतुरस्र है, तथा इनमे एक ओर ऊँची पीठ बनी है। इस पर धुएँ के दाग अभी तक दीख पडते हैं*। मिट्टी के बने साधारण चिराग तो बहुत प्रचलित थे।

एक प्रकार के वर्तुलाकार बर्तनों पर कई छिद्र बने है। जब मिट्टी गीली रहती थी, उसी समय ये छिद्र लकडी से बना दिए जाते थे। ये बर्तन अच्छी तादाद मे मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा मे मिले हैं। कुछ बर्तनों की तली मे तो एक ही बड़ा छिद्र है। ये शायद उस काल की वस्तुओं को गरम करने के साधन (हीटर्स) थे। मि० मैके का तो अनुमान है कि इन बर्तनों से दही निकाला जाता था।

मोहे जो दडो तथा हड़प्पा के बच्चे आजकल ही की तरह गहने पहिनने का शौक रखते थे। वे आपसी खेल के लिये गुड़ियाँ भी बनाते रहे होंगे किंतु गैरटिकाऊ पदार्थ की होने के कारण वे अब नष्ट हो चुकी हैं।

* वत्स—प्र० इ०, पृ० ३७४।

सिंधु प्रांत के लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी खेलते थे। दो तावीजों में अंकित दृश्यों मे एक हरिण तथा जंगली बकरा तीर से मारे जा रहे हैं*। आल्प्स पर्वत पर विचरण करनेवाले जंगली बकरे का चित्रण भी मोहें जो दड़ो के कुछ बर्तनों पर है। यह निस्संदेह शिकार का एक पशु था। धनुप उन लोगों का प्रमुख शिकार खेलने का साधन था। चकमक तथा साधारण पत्थर के तीरों के सिरों का सिंधु प्रांत में सर्वथा अभाव है। धातु के बने भी थोडे से सिर हैं। इनकी आयु भी मोहे जो दड़ो कालीन नहीं मानी गई है। आजकल ही की तरह मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा मे गुलेल का प्रचार भी था। इनमे प्रायः दो प्रकार की गोलियाँ (१) गोलाकार तथा (२) अंडाकार व्यवहृत होती थीं। ये गोलियाँ प्रायः हाथ से ही बनाई जाती थीं। इन गोलियों मे से कुछ तो धनुषों द्वारा भी फेकी जाती रही होंगी। इस ढग की गोलियाँ सुमेर तथा तुर्किस्तान मे भी प्रचलित थीं†।

भालों के फल, तलवारें तथा कटारें खुदाई मे मिली है। मछली तो काँटे द्वारा मारी जाती थी। शैली मे ये काँटे संसार के इतिहास मे अपने ढंग के एक ही है। इन काँटों के छिद्र

---

* मैके—इ० सि०, पृ० १८६।

† मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ४६६।

तथा बनावट वैसी ही है, जैसी कि आजकल के काँटों मे होती है। मछलियाँ अधिकतर सिंधु नदी ही मे मारी जाती रही होंगी। गदाओं के सिरे पत्थर के होते थे। इनका मोहे जो दड़ो मे बड़ा प्रचार था। इनमे कुछ तो ककड या चूने के पत्थर तथा कुछ हरे सख्त पत्थर के बनते थे। हड़प्पा मे केवल एक धातु का गदा-सिर मिला है। भालों तथा बर्छियों के कुछ सिर बहुत पतले हैं। शायद ये लकडी के ऊपर लगाए जाते थे। छोटे छोटे पशुओं के लिये जाल बने रहते होंगे। मोहे जो दड़ो मे मिट्टी की, जाल सदृश, कुछ वस्तुएँ मिली हैं।

प्रतिदिवस काम मे आनेवाली कितनी ही वस्तुएँ खुदाई मे मिली है। इनमे अधिकतर खडित अवस्था मे हैं। पदार्थों को भूनने की बेंट सहित एक तश्तरी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि समस्त सिंधु प्रांत मे बेंट सहित यह प्रथम वस्तु पाई गई है। प्याले की शक्ल के भी अनेक बर्तन थे। ये या तो दीपक, या जल पीने के प्याले थे। पत्थर के बहुत कम बर्तन मोहे जो दड़ो मे थे। जो कुछ प्राप्त हुए भी है वे अलबास्टर मे बने है। यहाँ के निवासी गुरियों के लिये तो सख्त से सख्त पत्थर काट सकते थे किंतु किसी कारण से वे बर्तनों के लिये पत्थर नहीं काट सके। पत्थर के बर्तन अति साधारण है। उनमे न शिल्प है और न कौशल। भूरे तथा लाल चूने के पत्थर की दो सुंदर तश्तरियाँ है। इनमे अवश्य कुछ कुशलता दिखलाई गई है। बर्तनों के अंदर किसी बर्मे की तरह के औज़ार से कोर

लगाया जाता था। पत्थर की दो विचित्र संदूकचियाँ भी मोहें जो दड़ो मे मिली हैं। एक संदूकची के अंदर तो चार खाने बनाए गए हैं। शायद इनके अंदर नाना भाँति के सौदर्य-वर्द्धक पदार्थ रखे जाते थे। यह भी सभव है कि इन खानों मे इत्र रखा जाता रहा हो। दूसरी सदूकची के बाहर से अच्छी नक्काशी की गई है।

कई सिलें तथा लोढ़े भी मोहें जो दडो में मिले हैं। सिल के बीच अधिक घिसा होने के कारण जान पड़ता है कि उनसे प्रतिदिवस काम लिया जाता था। सिलें प्राय: भूमि पर जडी रहती होंगी, क्योंकि इनके तले कुडौल बने है। कुछ साधारण तख्तियाँ भी सिल का काम देती रही होंगी। इनमे से कुछ तख्तियाँ पीले स्लेटी पत्थर की हैं। इन पर पालिश तथा अन्य रंग आदि पीसे जाते रहे होंगे।

हडप्पा तथा मोहें जो दडो में गेहूँ प्राप्त हुआ है। किंतु समस्त खुदाइयों मे कहीं भी पीसने की चक्कियाँ प्राप्त नहीं हुई है। संभवत: उस काल मे गेहूँ कूटकर फिर सिलपर मे पीसा जाता रहा हो।

सभवत: सिंधु-प्रांत-निवासी चकला के प्रयोग से भी परिचित थे। यहाँ अनेक प्रकार के ढाँचे मिले हैं, जिन पर कि रोटियाँ तथा मिठाइयाँ आदि बनती रही होंगी। ऐसे ढाँचों के बनाने मे बड़ी सावधानी से काम लिया गया है।

धातु के बने थोडे से बर्तन मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा मे प्राप्त हुए हैं। हडप्पा मे एक सुंदर तांबे का घडा प्राप्त हुआ है। इसके ऊपर ढकने के लिये एक तश्तरी थी जो कि घडे के साथ चिपक गई थी। इस घडे के अंदर बहुत से बर्तन, औजार तथा आभूषण थे। यह घडा दो भागों को जोड़कर बना था*। धातुओं के बर्तनों की कमी का एक कारण यह है कि नगर को छोडते समय बहुत से लोग बर्तनों को अपने ही साथ ले गए। धातु सरलता से उपलब्ध नहीं हो सकती थी, इसलिये नगर-निवासी इस कठिनता से प्राप्त धातु की वस्तुओं को छोडना नहीं चाहते थे।

कई मकानों के फर्शों के नीचे औजारों तथा हथियारों के समूह मिले हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी भावी आक्रमण की आशका से लोगों ने जल्दी-जल्दी ये वस्तुएँ गाड दी थीं। किंतु यह भी सभव है कि किसी महामारी के भय से लोगों ने कुछ दिनों तक बाहर रहने का इरादा किया हो। चोरी के डर से ही उन्होंने बर्तन भूमि के नीचे छिपाए, किंतु किसी कारण से वे फिर इन वस्तुओं को निकालने के लिये न लौट सके†।

अन्य वस्तुओं मे आरियाँ, तलवारें आदि हैं। बेट के लिये छिद्रवाली एक गैंती मोहे जो दडो मे मिली है। मोहे जो दडो मे छिद्रवाला यह पहिला हथियार है। मि० मैके तो कहते है कि

* वत्स—य० इ०, पृ० ८५।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४४४।

यह शैली कुषाण-कालीन है। किंतु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी शैलियों का चित्रण प्रायः मिट्टी के बर्तनों पर भी दीख पड़ता है। सिंधु-प्रांत की आरियाँ सुमेर तथा इलम की आरियों से उत्कृष्ट तथा भव्य थीं। पाठक यहाँ इस बात का स्मरण रखेंगे कि प्राचीन देशों की सभ्यताओं में दाँतोंवाले बहुत ही कम औजार व्यवहृत हुए हैं। पीतल की एक १६½ इंच लंबी आरी में नीचे की ओर तीन छिद्र हैं। इन छिद्रों पर कीलों द्वारा बेंट जड़ा रहता होगा। बहुत सी छेनियाँ भी प्राप्त हुई हैं। ये अधिकतर ताँबे तथा पीतल की बनी हैं। इनमें कुछ तो सीधी डंडे के आकार की तथा कुछ चौकोर हैं। दोनों प्रकार की छेनियों के मुख पैने होते थे। दरातियों तथा हँसियों की तरह के भी कुछ औजार हैं, किंतु वे टूटी फूटी अवस्था में हैं इसलिये उनके ठीक स्वरूप को पहिचानने में कठिनाई होती है। ताँबे की दो तलवारें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें एक की लंबाई १८½ इंच है। मजबूती के लिये हथियार को एक ओर बीच में मोटा कर दिया गया है। ऐसी ही एक तलवार पैलेस्टाइन में भी मिली है। कुछ हथियारों पर चित्रलिपि सी है। इस वर्ग के हथियार मोहेंजो दड़ो में बहुत प्रचलित थे। यह अंकन शायद वस्तुओं की संख्या सूचित करता है। यह भी संभव है कि ये वस्तुएँ किसी नागरिक संस्था या मंदिर की निजी संपत्ति रही हों*। कभी कभी कटारों तथा चाकुओं में भेद

* मैके—इ० सि०, पृ० १३१।

दिखलाना कठिन हो जाता है; क्योंकि उनकी बनावट में विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता। मोहें जो दड़ो में त्रिकोण-आकृति के भी दो चाकू मिले हैं। इन चाकुओं की नोकें नीचे की ओर घुमाई हुई हैं।

पशुओं और पक्षियों को लड़ाना सिंधु-प्रांत निवासियों के आमोद-प्रमोद का एक अंग था। एक मुद्रा में दो जंगली मुर्गों के लड़ने का सुंदर दृश्य है। इसके अतिरिक्त बाघ और अन्य पशुओं की लड़ाइयों के चित्रण भी यत्र तत्र देखने को मिल जाते हैं।

पशु-पक्षी चिरकाल से मनुष्य की क्रीड़ा के साधन रहे हैं। समय समय पर उन्होंने विरही तथा दुखी जनों को सांत्वनाएँ प्रदान कीं, तथा सुखी लोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ प्रस्तुत कीं। वास्तव में समस्त संस्कृत साहित्य पशु-पक्षियों की क्रीड़ाओं से भरा पड़ा है। ऐसे मनो-विनोद का बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन बाण भट्ट की कादंबरी में मिलता है*। मृच्छकटिक में भी शूद्रक ने ऐसे अनेक पालतू पक्षियों का उल्लेख किया है जो क्रीड़ा के प्रमुख साधन थे†।

---

* कादम्बरी (नि० सा० प्रे०), पृ० १७२।

† पठति शुकः, कुरकुरायते मदनसारिका, योध्यन्ते लावकाः, प्रेध्यन्ते पञ्जरकपोताः।—मृच्छकटिक, ४।

महाभारत के एक श्लोक मे एक पक्षी एक मनुष्य से कहता है कि मनुष्य तथा पक्षियों मे केवल दो प्रकार के संबंध (भक्षण और क्रीड़ा) हैं*—

भक्षार्थं क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबधादृते क्षमः॥

फलकों पर खेले जानेवाले खेल सिंधु-प्रांत निवासियों को ज्ञात थे। चौपड़, पासा तथा शतरंज भी शायद लोग खेलते रहे हों। पाँसे की तरह कुछ गुट्टियों पर १, २, ३ सख्याएँ अंकित है। कुछ गोटों मे चारों ओर ऊपर-नीचे जानेवाली रेखाएँ भी अंकित है। पाँसे वर्त्तुलाकार है। इनके अतिरिक्त मिट्टी, फियांस तथा अन्य मूल्यवान् पत्थरों के बने सवार भी है। इनको लोग प्रायः चौकोर तख्तियों पर खेलते रहे होंगे। उर की खुदाई मे भी कुछ खेलों के लिये बने लकडी के फलकों सी वस्तुएँ मिली है। मोहे जो दड़ो मे तीन भागों मे विभाजित एक चौकोर ईंट का टुकड़ा मिला है। यह टुकड़ा कहीं फर्श पर जड़ा रहा होगा। अवकाश पाकर लोग आँगन मे ही बैठकर पाँसे आदि खेलते रहे होंगे†। घन की शैली के पाँसे सभी तहों पर प्राप्त हुए है, किंतु पाँसे अधिक प्रचलित थे। हाथीदाँत के बने पाँसों की रूपरेखा बडी मनोहर है।

---

* महाभारत, शांति पर्व १३९, ६०।

† एंटिक्वीटी, दिसम्बर १९३०, पृ० ४२५।

पाँसे हड़प्पा में भी बहुत प्रचलित थे। वहाँ अधिकतर फियांस और पत्थर के बने पाँसे थे*। मोहन जो दड़ो में पाँसे अधिकतर मिट्टी के बने थे। न जाने किन कारणों से मोहन जो दड़ो में फियांस के पाँसे नहीं बनाए जाते थे।

ऋग्वेद युग में भी जुआ खेलने की प्रथा थी। एक मंत्र में जुआरी जुए के खेल के आनंद का सुंदर वर्णन करता है—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् †

किन्तु बाद में वह अपनी हार का वर्णन बड़े करुणाजनक शब्दों से करता है। जुआरी को वह आदेश देता है कि वह भविष्य में जुआ न खेले तथा खेती की सम्पत्ति पर ही अपने को संतुष्ट रक्खे।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ‡

बौद्ध जातकों से भी ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में भी जुए की प्रथा प्रचलित थी। उस समय जुए में जीतनेवाले व्यक्ति

---

* वत्स० ह०, पृ० ४५६।

† ऋग्वेद १०, १०-३४।

‡ ऋग्वेद १०, ३४, १३।

को जीत का कुछ भाग राजकोष में भी देना पड़ता था*। यही बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होती है।

संगमरमर की गोलियाँ फेंकने का भी मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा मे प्रचार था। कुछ गोलियाँ तो अति कठोर पत्थर की बनी है। कीमती और सख्त पत्थरों की गोलियाँ शायद पानी के साथ किसी सख्त चूर्ण से रगडी जाती रही होंगी। इन गोलियों के साथ साथ चाँदी तथा सोने की गोलियाँ भी रखी थी। सभवतः चाँदी तथा सोने की गोलियाँ सिंधु-प्रांत मे अप्राप्य समझी जाती थीं। हड़प्पा से प्राप्त गोलियाँ दर्शनीय है। इनमे जो मिट्टी की बनी है उनपर तो भिन्न भिन्न रगों से पालिश की गई है। संगमरमर तथा पत्थर की गोलियाँ अति साधारण होते हुए भी देखने मे बडी भव्य है। घोंघे की गोलियों पर वृत्तों का चित्रण है। कुछ छोटे कोण के आकार की वस्तुएँ भी मोहे जो दडो मे प्राप्त हुई हैं। शायद बिलियर्ड की तरह का कोई खेल उस काल मे भी प्रचलित रहा हो।

मोहे जो दडो मे मुद्राएँ बहुत मिली हैं। किंतु इनकी छाप केवल दो चार मिट्टी के बर्तनों पर ही दीख पडती है। इन मुद्राओं पर अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए है। प्रायः सभी मुद्राएँ अच्छे ढंग से किसी औजार द्वारा काटी जाती थीं। इसके बाद छेनी से चित्रण किया जाता था। फिर पालिश करके ये आग

---

* रा० डेविड्स—बुद्धिस्ट इंडिया, १९०३, पृ० ७१-७२।

मे पकाई जाती थी। गरम होने पर इनका रंग श्वेत हो जाता था। इनका असली रग शायद नीला था; क्योंकि कुछ टूटी मुद्राओं के अंदर का भाग नीला है*। असली मुद्राएँ बहुत कम थीं।

ताँबे की पट्टियाँ कई आकारों की हैं। इनपर भी अधिकतर पशु ही चित्रित किए गए हैं। ये शायद तावीज थे। इनमें खुदाई भी गहरी नही है। शायद ये पट्टियाँ कपडे के अंदर सिली जाती थीं और आजकल की ही तरह गले या हाथ मे बाँधी जाती थीं। सैकडों वर्ष बाद फिर बौद्ध धर्म के अनुयायियों मे भी ऐसे ही तावीज प्रचलित दीख पडते हैं। बौद्ध-धर्म की एक प्रकार की पट्टियों के अदर मत्र भी लिखे जाते थे। बाद में ये पट्टियाँ कपडे मे लपेटकर बौद्ध तीर्थस्थानों में चढाई जाती थीं†। सभवतः कुछ भिक्षु इन्हे गले या हाथ मे भी बाँधते थे।

मोहें जो दडो में एक ऐसा तावीज भी मिला है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के निवासी गले में भी तावीज पहिनते थे। एक तावीज, जिसमे न तो कोई खुदान है और न कोई ठप्पे का काम, अवश्य गले मे पहिना जाता था। इस तावीज के सिरे पर चार छिद्र बने हैं। इन छिद्रों मे डोरी

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३७६।

† हीरानद शास्त्री—'नालदा', पृ० ३५।

लगाकर तावीज गले मे डाला जाता रहा होगा। किंतु इस प्रकार के तावीजों का प्रयोग सीमित था* ।

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों मे कई स्थलों पर तावीजों का उल्लेख किया है—यथा रक्षाकरण्डकम् †, जयश्रियः वलयः‡ ।

प्राचीन काल के सभी देशों के लोगों का तावीजों मे विश्वास था। किंतु जैसे जैसे मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया, इन तावीजों की महत्ता भी घटती गई। फिर भी तावीजों पर विश्वास अभी संसार से उठा नहीं है। आजदिन भी यूरप, अरब, तथा मिस्र देश के निवासियों का तावीजों पर बडा विश्वास है।

सिंधु-प्रांत-निवासियो के बौद्धिक जीवन का कुछ पता नहीं है। उनके यहाँ कौन कौन सी विद्याएँ थी तथा उनका जीवन दृष्टिकोण किस भाँति का था, इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हमे तब तक रुकना पड़ेगा जब तक कि सिंधु लिपि शुद्ध शुद्ध पढ़ी नहीं जाती। मिट्टी की कुछ पतली तख्तियों से ज्ञात होता है कि ये लिखने की पाटियाँ थीं। इनकी लंबाई ४ से ७ इंच तक है। इनपर शायद किसी तरह की पालिश लगी थी। लिखने के बाद पाटियाँ धो दी जाती रही होंगी।

---

* आ० स० रि० १९३०-३४, पृ० १०८ ।

† अभिज्ञान शाकुंतल अंक ७ ।

‡ रघुवंश, १६, ७४ ।

यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि प्राचीन भारत मे किस प्रकार की पट्टियों पर लिखा जाता था। बौद्ध काल मे तो निस्सदेह लकडी की पट्टियाँ लिखने के लिये बनाई जाती थीं*। उधर गांधार शिल्प मे अंकित एक मूर्त्ति मे भगवान् बुद्ध एक समचतुरस्र लिपि-फलक पर लिखते दिखलाए गए हैं†।

खेती के औजार सिंधु प्रात मे कम मिले हैं। सभवतः भूमि खोदने के बहुत से औजार लकडी ही के बनते थे। छिले हुए चकमक पत्थर का एक औजार दोनों ओर ढलुवाँ तथा बीच मे ऊँचा है। यह शायद किसी हल की कील थी। वजन मे भी यह औजार बहुत भारी है।

इतना सुसस्कृत जीवन बिताते हुए यहाँ के लोगों के संबंध मे यह सोचना स्वाभाविक है कि वे मेज, कुर्सी, पलग, तख्त आदि से परिचित रहे होंगे। किंतु ये सभी वस्तुएँ लकडी की बनी होने के कारण आज इतने युगों के बाद अप्राप्य हो गई हैं। मिट्टी के खिलौने की दो कुर्सियाँ खुदाई में मिली है। एक मुद्रा पर कोई आकृति बैल के पैरोंवाली कुर्सी पर बैठी है। संभवतः इसी नमूने की कुर्सियाँ उस काल मे बनती थीं। इनके अतिरिक्त तिपाइयाँ तथा तख्त भी सिंधु-प्रांत में बनते थे।

---

* कट्ठक जातक, नं० १२५।

† मजूमदार–ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इडियन म्यूजियम जि० २, (गाधार), पृ० २४६-४७।

आधुनिक फैशन के बीज मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा निवासियों के बीच उग चुके थे। स्त्रियाँ बालों पर पिनें लगाती थीं। पुरुष भी संभवतः बालों पर पिन लगाते थे। एक खिलौने पर पुरुष-आकृति बालों पर पिन लगाए हुए है। इन पिनों के सिरों पर कभी कभी पशुओं के सिर आदि बने रहते थे। स्त्री पुरुष दोनों लंबे बाल रखते तथा उन्हें कंघियों द्वारा सँवारते थे। कंघियाँ उस युग मे लकडी की बनती थी। हाथीदाँत की भी सुंदर कंघियाँ प्राप्त हुई है। एक कंघी के दोनों ओर सुंदर वृत्त बने है। मि० मैके को यह नौ अस्थिपंजरों के बीच मिली थी। मुडी हुई कंघियाँ भी बालों पर लगाई जाती थीं।

हडप्पा मे प्राप्त कुछ खिलौनों के शिरोवस्त्रों पर पुष्प लगे है। कालांतर मे यही फैशन शुंगकालीन मृण्मूर्त्तियों और कुषाण तथा गुप्त कालीन पत्थर की मूर्त्तियों मे भी आया। आजकल भी दक्षिण भारत (महाराष्ट्र) तथा बंगाल मे स्त्रियाँ सिर पर फूल लगाती है। कुछ आकृतियों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कभी कभी नुकीली टोपियाँ भी पहिनती थीं। नुकीला भाग सिर की एक ओर लटकता रहता था। ऐसी ही टोपी पुरुष-आकृतियों पर भी मिलती है। किंतु इसमे नुकीला भाग एक ओर सीधा है। एक फीता माथे पर लगाकर यह टोपी गिरने से बचाई जाती थी।

सिंधु-प्रांत की स्त्रियों के रहन-सहन के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। किंतु यह कहा जा सकता है कि सिंधु प्रांत

मे पर्दे की प्रथा नहीं थी। मोहें जो दड़ो के किसी भी भवन से यह ज्ञात नहीं होता कि पर्दे के लिये किसी विशेष शैली के भवन बनाए गए थे।

वैदिक युग की सभ्यता से भी कहीं ज्ञात नहीं होता कि स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। एक मत्र में तो स्पष्ट है कि विवाह के उपरांत वधू का परिचय अतिथि लोगों से कराया जाता है; यथा—

सुमगलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत्
सौभाग्यमस्य दत्वायायास्त वि परेतन*

पतली लकडी तथा घास की बुनाई भी सभवत: सिंधु-प्रांत मे होती थी। यहाँ के निवासी निजी प्रयोग के लिये टोकरियाँ तथा अन्य बासन इन्हीं चीजों से बनाते होंगे। हडप्पा में मिट्टी की एक छोटी टोकरी मिली है। समस्त सिंधु-प्रांत मे यह अपने ढग की प्रथम टोकरी है†।

सिंधु-प्रात-निवासियों का सार्वजनिक जीवन कैसा था यह समस्या अभी अधकार में है। हड़प्पा के कुछ सभाभवनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ के लोग सामूहिक जीवन से परिचित थे और पूजा उपासना के लिये सघ-रूप मे एकत्रित भी होते थे। इस प्रकार के कमरे बहुत लवे हैं

---

* ऋ० १०, ८५, ३३

† वत्स—य० ६०, पृ० ४५४।

और इनमें ईंटें भी ११×५.५×२.५ नाप की प्रयुक्त हुई हैं। कश्यप सहिता मे वर्णित अग्नि-वेदी के लिये भी इसी नाप की ईंटें बनाई जाती थीं*।

पूजा की कोई मूर्त्ति मोहें जो दड़ो मे नहीं पाई गई है। किंतु अनेक मुद्राओं के दृश्यों से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत मे देवपूजा तथा लाक्षणिक पूजा प्रचलित थी। यह अवश्य माना जा सकता है कि मूर्त्तिपूजा किसी विशेष वर्ग के ही लोगों मे प्रचलित थी। मिश्रित सभ्यता के नगरों मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

ऋग्वेद युग मे मूर्त्तिपूजा नहीं थी, यद्यपि अनेक विद्वानों ने वैदिक युग मे मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व बतलाया है। हवन और यज्ञों से संबंध रखनेवाले इतने विशद मंत्रों मे केवल एक मंत्र मे ही मूर्त्तिपूजा का सकेत मिलता है†—

क इमं दशाभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनपदथैनं मेपुनर्ददत्॥

भारतीय मूर्त्तिकला मोहे जो दडो काल के बाद न जाने किन किन परिस्थितियों में रही। आजकल तो हम भारतीय पूजन-मूर्त्ति-कला का जन्म ईसा की पहली शताब्दी से मानते है। किंतु दो एक उदाहरणों से जो कि अति संदेहजनक है,

---

* आर्य्यन पाथ, जुलाई १९२६, पृ० ३०९-१०।

† ऋग्वेद, ४, २६, १०।

भारतीय पूजनमूर्त्ति-कला का इतिहास ई० पू० ५वीं शताब्दी तक ढकेला गया है। अपने भ्रमण ग्रंथ में हुयेन-सांग लिखता है कि उसने कौशांबी में, बुद्ध भगवान् के जीवनकाल में ही अंकित, चंदन की एक बुद्ध-मूर्त्ति देखी थी*। इसी प्रकार खारवेल के हाथी गुम्फा लेख पर भी कलिंग के एक राजकुमार की लकड़ी में बनी मूर्त्ति का उल्लेख है†।

मोहें जो दड़ो नगर का इतना सुंदर प्रबंध किसी संस्था या समिति के ही द्वारा हो सकता था। मि० मैके का कहना है कि मोहें जो दड़ो एक गवर्नर (प्रतिनिधि) के अधीन था। कुछ प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सुविधा तथा सुचारु प्रबंध के लिये नगर को कई भागों में बाँटा गया था। प्रत्येक भाग के लिये एक एक रक्षक नियुक्त रहा करता था। इन रक्षकों के लिये सड़कों के कोनों पर मकान बने थे। एक सड़क के बीच दीवार बनाकर उसे दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। इससे नगर के भिन्न भिन्न भागों में बाँटे जाने की पुष्टि हो जाती है। सड़कों पर रोशनी का भी प्रबंध रहता था।

स्थान स्थान पर कूड़ा रखने के लिये पीपों को रखना तथा नालियों को ठीक समय पर साफ करना, मकानों को ठीक स्थानों पर बनवाना, जल की सुंदर व्यवस्था तथा सड़कों का उचित

---

* बील बुद्धिस्ट रेकर्ड्स ऑव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० २३५।

† ज० वि० उ० रि० सो०, जिल्द ६, पृ० १७७।

निरीक्षण आदि बातों से ज्ञात होता है कि मोहें जो दड़ो में अवश्य कोई जानपद या म्यूनिसिपल बोर्ड था और यही संस्था नगर के स्वास्थ्य तथा सुभीते के लिये योजनाएँ बनाती थी*। यह बतलाना कठिन है कि शहर मे कौन कौन से अफसर थे। किंतु इनमे शायद वे छः मुख्य अधिकारी रहे होंगे जिनका उल्लेख शुक्राचार्य ने शुक्रनीतिसार मे किया है। या इस नगर मे नगरपति कौटिल्य-वर्णित "नागरक" रहा हो। सफाई के लिये अवश्य कोई हेल्थ ऑफिसर नियुक्त रहा होगा। नगर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अनेक वैसे ही विधान रहे होंगे जिनका वर्णन धर्म-शास्त्रों मे प्रायः मिला करता है।

मिस्टर मैके की धारणा का खंडन मिस्टर हंटर करते है। वह कहते हैं कि मोहे जो दड़ो मे राजमहल के सदृश कोई इमारत नही। उनकी धारणा है कि मोहे जो दड़ो मे कोई राजा नहीं था। यहाँ प्रजातन्त्र सरकार थी। प्रजातंत्र सभा के सदस्य ही संभवतः शहर का प्रबंध भी करते रहे होगे†। इस सभा मे अनेक राजनीतिक दलों और मतों के अनुयायी तथा प्रतिनिधि रहे होंगे।

मकानों के पृथक् पृथक् भाग व्यापारिक सभ्यता का आभास देते हैं। मोहें जो दड़ो के एक भवन से मालूम होता है कि इसमें

---

* न्यू रिव्यू—सितम्बर १९३८, पृ० २४१।

† हंटर—'स्क्रुप्ट ऑव मोहे जो दड़ो ऐंड हड़प्पा', पृ० १३-१४।

एक बड़ी दूकान स्थित थी। इस भवन को कई भागों मे बाँटा गया था। एक दूसरी इमारत तो देखने में बिल्कुल अन्न-भडार की तरह है। बलूचिस्तान जाने के रास्ते की बस्तियों से ज्ञात होता है कि मोहे जो दडो एक व्यापारी नगर था।

फिर एक ही घर मे पृथक् पृथक् परिवारों का रहना यह सूचित करता है कि नगर का सामाजिक जीवन भली भाँति सुसगठित था। इससे यह भी मालूम होता है कि वहाँ के निवासी अधिकतर एक ही धर्म के अनुयायी थे। यदि उनमें कुछ धर्मभेद था भी तो उस भेद का सामाजिक जोवन पर प्रभाव न था*।

व्यापार की दशा दिखलानेवाली दूसरी वस्तु पत्थर के बटखरे हैं। इनके बनाने में बडी चतुरता से काम लिया गया है। सभवतः इन बटखरों की परीक्षा के लिये कोई अफसर नियुक्त था; क्योंकि इन बटखरों की तौल मे जरा भी अतर नहीं है। सब से अधिक बटखरे घन शैली के हैं। किंतु गोल और अन्य आकारों के बटखरे भी बनाए गए थे। एक बटखरे का (जो सिरे पर त्रिकोण है) वजन २५ पौंड है। इसके सिरे पर दो छिद्र है। इन छिद्रों में रस्सी डालकर यह बटखरा ऊपर को उठाया जाता रहा होगा†। ये बटखरे कई प्रकार के पत्थरों के

---

* 'गगा', पुरातत्त्वाक, पृ० ६४।

† मैके—इ० सि०, पृ० १३४।

बने हैं, एक दो को छोडकर किसी पर भी चिह्न नहीं दीख पडते। छोटे बटखरे जोड़ के (बाइनरी) और बड़े बटखरे दशमलव (डेसिमल) के आधार पर बनाए गए थे।

मोंहे जो दडो तथा हडप्पा मे अभी तक कोई सिक्के नहीं मिले है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र तथा असीरिया की तरह सिंधु सभ्यता भी सिक्कों के प्रयोग से अनभिज्ञ थी।

नापने के लिये शायद पटरियाँ बनाई जाती थीं। एक घोंघे की पत्ती पर नाप के कुछ चिह्न बने हैं। ऐसे ही कई टुकड़ों को जोड़कर पटरी बनाई जाती रही होगी*।

ऐसा जान पड़ता है कि मोहे जो दड़ो की स्त्रियाँ चूहो के आतंक से दुखी थीं। इनको पकडने के लिये चूहेदानियाँ बनाई जाती थीं। इनके ऊपर तीन चार छिद्र करके उन पर लकड़ी या लोहे की सींकें डाली जाती थीं। लुढ़कने के डर से इनका तला समतल बनाया जाता था†। एक व्यापारिक नगर में, जहाँ सैकडों मन अनाज तथा रासन प्रति दिवस आती रही हो, चूहों का धावा करना स्वाभाविक ही है।

हाथीदाँत की मछलियों की आकृति की भी कुछ वस्तुएँ मोहे जो दड़ो मे मिली हैं। इनमे कोई छिद्र नहीं है इसलिये इन्हे तावीज मानने मे शंका होती हैं। अनेक घोंघे की सी विचित्र

---

* मैके—इ० सि०, पृ० १२६।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४२७।

वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनका क्या प्रयोग था, यह बतलाना कठिन है। किंतु बहुत सी वस्तुएँ लकडी के सामान के जोडों पर प्रयुक्त होती रही होंगी। शिमला, काश्मीर तथा अहमदाबाद के लकडी के सामानों में भी जोडों पर हाथीदाँत या हड्डियों के टुकड़े अभी तक लगाए जाते है।

मुद्राओं पर हाथी का प्रायः चित्रण दीख पड़ता है, और इस चित्रण के साथ तुलना करने पर सिंधु-प्रांत में हाथी की हड्डियाँ जो कम प्राप्त हुई है, उसमे अवश्य कुछ रहस्य है। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते है कि यदि हाथी सिंधु-प्रांत मे पवित्र माना जाता था, तो इसको मारने का वहाँ पूर्ण निषेध था। जो कुछ हड्डियाँ प्राप्त हुई भी है वे संभवतः उन हाथियों के पंजरों से निकाली गई हैं, जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई है। हाथियो की मृत्यु के बाद ही दाँत निकाले जाते रहे होंगे।

भारत मे हाथीदाँत के प्रयोग की प्राचीनता प्रसिद्ध है। बौद्ध काल मे हाथीदाँत की वस्तुओं का एक सुंदर बाजार बनारस मे भी था*। बाद को साँची स्तूप के एक विशाल द्वार को भी विदिशा नगरी के हाथीदाँत के विशेषज्ञों ने बनाया था।†

---

* देखिए—जातक, १,३२०।

† एपिग्रैफिका इंडिका जि० २, पृ० ६२।

चतुर्थ अध्याय

(२) रीति रस्म तथा जीवन

सिंधु प्रांत निवासियों का जीवन लडाई झगडे का नहीं था। समस्त सिंधु प्रांत की प्राप्त वस्तुओं मे आत्मरक्षा के हथियारों की कमी है। जो तलवारे मिली भी हैं उनकी नोकें पैनी नहीं है। इससे जान पड़ता है कि वे शरीर को बेधने के काम मे नहीं आती थीं। बाणों के सिरे अवश्य पाए गए हैं। यदि आत्मरक्षा के लिये किन्हीं शस्त्रों का प्रयोग होता भी रहा हो तो वे धनुष बाण ही थे। फिर संभवतः अन्य देशों की तरह मोहे जो दडो तथा हडप्पा मे किलेबंदियाँ भी थी। नगर की रक्षा के लिये भी उस समय सरकार द्वारा नियुक्त कुछ रक्षक थे। इसके अतिरिक्त हम अनुमान करते है कि उस काल के लोग सहनशील तथा उदारचित्त भी थे और एक दूसरे के स्वत्वों का आदर करना जानते थे। इस उदारता का प्रमाण हमें इस बात से भी मिलता है कि कई मकानों में निजी कुएँ जन साधारण के लिये खोल दिए गए थे। घर की ओर ही केवल एक पतली दीवार पर्दे के लिये कुओं के निकट बना दी

जाती थी*। खुदाई मे कहीं भी ढाल, कवच तथा शिरस्त्राण प्राप्त नहीं हुए हैं।

मोहं जो दड़ो मे सफाई का सुंदर प्रबंध था, किंतु वहाँ के निवासी रोगों से मुक्त नहीं थे। आजकल ही की तरह सिंधु प्रांत निवासियों का यह विश्वास था कि ताबीजों या जादू-टोनों के द्वारा भी रोग दूर किए जा सकते है। ऋग्वेद युग के लोगों तक मे विश्वास था कि कई रोग ताबीजों द्वारा दूर किए जा सकते हैं†।

यह बतलाना कठिन है कि मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे चिकित्सालय थे या नहीं। किंतु यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल मे भी रोगियों की सेवा शुश्रूषा के लिये समुचित व्यवस्था थी। मानव धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध जातकों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत मे रोगों के उपचार के लिये चिकित्सालय‡ तथा अन्य प्रबंध थे§।

हड़प्पा मे धातुओं के बने तीन औजारों का एक गुच्छा मिला है। ये सब एक छल्ले मे बाँधे हुए है। इनमें एक चाकू दोनों ओर से काम देने वाला है। शायद यह चीर-

---

* आ० स० रि० १९३०-३४, पृ० १०३-०४।

† अथर्ववेद १, १७, १, २२; १, २३,२४।

‡ मनुस्मृति, पृ०३९५।

§ अर्थशास्त्र, ४, प्रथम भाग।

फाड़ का कोई औजार रहा हो। किंतु इस ढग के औजार अन्य देशों मे शृंगार-विधान के काम आते थे।*

सिंधु प्रांत मे औषधियाँ हड्डियों के चूर्ण से भी बनाई जाती थीं। मोहे जो दड़ो मे चार प्रकार के हिरनों—काश्मीरी बारहसिंगा, चीतल, सांभर तथा पारे के सींग प्राप्त हुए है। कर्नल सिवेल की धारणा है कि ये सींग इधर उधर से केवल औषधि बनाने के लिये मँगाए जाते थे। प्राचीन काल मे बारहसिंगों के सींगों से नाना प्रकार की औषधियाँ बनाई जाती थी। इन चार प्रकार के हिरनों मे केवल पारा ही सिंधु प्रांत का निवासी था। पारा आजकल भी सिंधु प्रांत मे पाया जाता है। अन्य तीन प्रकार के सींग तो सिंधु प्रांत से दूर देशों मे पाए जाते है†। सिंधु प्रांत के ओथ भाजो बूथी नामक स्थान मे मिट्टी के बर्तनों पर श्री मजूमदार को कटल मछली के अंदर की हड्डियाँ भी मिली है। यह पदार्थ जिसे 'समुद्रफेन' कहा जाता है आयुर्वेद की एक बड़ी गुणदायक औषधि है। डाक्टर वेणीप्रसाद के अनुसार यह औषधि कोष्ठबद्धता, आँख, कान, गले तथा चर्म के रोगों के लिये रामबाण औषधि है।

चट्टानों से निकाली जानेवाली शिलाजीत भी मोहें जो दड़ो मे मिली है। आजकल भी पंजाब, काश्मीर तथा गढ़वाल

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १४४।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २९।

के पर्वतों मे से शिलाजीत निकाली जाती है। शिलाजीत के महत्त्व को सर्वप्रथम सिंधु प्रांत के निवासियों ने ही जाना होगा और वही की परंपरा आजदिन तक भारत में चली आ रही है।

इसके अतिरिक्त हरिताल का एक टुकड़ा भी हड़प्पा मे मिला है। यह पदार्थ या तो जहर या कोई दवा बनाने के काम आता रहा होगा। कभी कभी यह ताम्र के बर्तनों या हथियारों के साफ करने मे भी काम आता था*। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पदार्थ का सिंधु प्रांत मे वास्तविक प्रयोग क्या था।

महाकवि कालिदास के अनेक नाटकों से ज्ञात होता है कि हरिताल से तेल निकाला जाता था। इसके अतिरिक्त माथे पर तिलक या बिंदी लगाने के एक पदार्थ मे भी हरिताल मिलाया जाता था†।

यह सभव है कि शारीरिक स्फूर्त्ति के लिये सिंधु प्रांत निवासी व्यायाम करते थे। हड़प्पा मे प्राप्त एक विचित्र आकृति से ज्ञात होता है कि वह व्यायाम कर रही है। इसमे एक नग्न पुरुष खडा होकर पीछे की ओर दोनों हाथों को फेंके हुए है‡।

यह जानना कठिन है कि वास्तव मे सिंधु प्रात निवासी गणित, ज्योतिष तथा नक्षत्रशास्त्र से विज्ञ थे या नहीं। किंतु

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ८०।

† कुमारसंभव ६, २३।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० २९५।

यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के निवासी मकानों को बनाते समय सदैव सूर्योदय की दिशा का ध्यान रखते थे। वे तारों की गति से भी दिशाओं को निर्धारित करते रहे होंगे। संभवतः उनके वर्षकाल का निर्णय सूर्य की गति से ही होता था। इसी निर्णय के अनुसार सिंधु-प्रांत निवासियों को बाढ़ के आने का समय ज्ञात होता था* ।

ऋग्वेद युग के लोग भी ज्योतिष तथा नक्षत्र शास्त्र से अभिज्ञ थे। उस काल मे लोग तारों की गति से काल-विभाजन का निश्चय करते तथा अपने विभिन्न उत्सवों और त्योहारों के दिनों को नियत करते थे। दक्षिणायन उत्तरायण का उल्लेख भी। एक मत्र मे मिलता है† । वैसे ही निम्नलिखित मंत्र मे उनके नक्षत्र-गति-ज्ञान पर प्रकाश पडता है—

सदृशीरद्य सदृशारिदूश्वो दीर्घ सचन्ते वरुणस्य धाम,

अनवद्यास्त्रिशतं योजनान्येकैका क्रतु परियन्ति सद्यः ।‡

१९३०-३१ ई० की खुदाई मे मि० मैक को फर्शों के नीचे ताँबे के ढेर तथा अन्य कई मूल्यवान वस्तुएँ मिली थीं। शायद किसी भावी आक्रमण की आशका के कारण लोगों ने जल्दी-जल्दी ये बर्तन गाड दिए थे, किंतु द्वंद्व मे हत होने के कारण

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ३०।

† ऋग्वेद—१, १६४, १२।

‡ ऋग्वेद—१, २३, २६।

वे इन बर्तनों को फिर न निकाल सके। इधर उधर पड़े हुए अस्थि-पजरों से भी धावे का आभास होता है। एक कुएँ की सीढी पर दो पंजर पडे थे। सबसे नीचे की सीढी पर पडे मनुष्य-पजर से मालूम होता है कि वह मनुष्य पीछे ढकेला जाकर मरा था*। शरीर से अलग किए गए भी कुछ पजर मिले हैं। सभवतः शत्रुओं द्वारा ही इनकी मृत्यु हुई थी। डा० गुह के अनुसार कुछ खोपड़ियाँ जली सी मालूम होती है। मि० मैके कहते है कि खतरे के निकट होने के कारण कुछ शरीर अच्छी तरह नही जलाए गए थे। सभवतः जल्दी जल्दी में चिता के लिये लकडियों का प्रबध भी न हो सका था। केवल मृतक संस्कार को पूर्ण करने के लिये ही शरीर को अग्नि मे रखना आवश्यक था।

मोहें जो दड़ो निवासियों को सीमाप्रांत की ओर से सदैव धावे की आशका रहती थी। ऐसा जान पडता है कि अंतिम युग मे इस नगर पर बलूचिस्तान की ओर से धावा किया गया था। किरथर पर्वत की पहाडियाँ मोहें जो दड़ो से कुल ३० मील की दूरी पर हैं। इन पहाड़ियों पर रहने वाली जातियों के लोग शीतकाल या अकाल के समय नीचे तलहटियो की उपजाऊ भूमि मे उतरकर लूटपाट मचाते थे। मोहे जो दडो के अंतिम युग मे बहुत से लोग इन्ही शत्रुओं द्वारा मारे गए

---

* आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ५४-५५।

होंगे। धावा करने वाले ऐसे लोग रहे होंगे जिन्हें मूर्त्तिपूजा से घृणा थी। धावों की आशंका अधिकतर अंतिम युग में रही होगी। इस समय नगर की रक्षा के लिये कोई साधन नही थे। प्रारंभिक तथा मध्य युग मे मोहे जो दडो नगर की रक्षा का सुंदर प्रबध था*।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि आत्मरक्षा के कोई भी हथियार मोहे जो दडो तथा हडप्पा में नहीं मिले हैं। नगर मे अंतिम युग मे न किलेबदी थी और न रक्षा की कोई दीवार। श्री दीक्षित का अनुमान मान्य है कि सिधु सभ्यता के लोप होने का कारण एक यह कमजोरी भी थी। वैसे तो कोई भी सभ्य-समाज या नगर बर्बर जातियों के प्रहारों से नहीं बच सकता है, किंतु जब स्वरक्षा की ओर कोई समाज या नगर ध्यान न देता हो तो शत्रुओं के सम्मुख उसका पुतलियों की तरह उड़ना बिल्कुल स्वाभाविक है। सिंधु प्रांत निवासी किसी भी प्रकार के युद्ध के योग्य नही थे और इसलिये वे शीघ्र ही मजबूत तथा पहाडी जातियों के द्वारा दबा दिए गए।

इसके अतिरिक्त सिंधु प्रांत निवासियों की हार का एक यह भी कारण था कि वे बहुत आरामतलब और बेफिक्री का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्हे भोजन आदि की तो चिंता थी नही।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६४७-४८।

अन्य जीवन की सुविधाएँ भी जब उन्हे उपलब्ध हो गई, तो वे बडे आराम का जीवन बिताने लगे। जब शत्रुओं ने उन पर आक्रमण किया तो वे किसी भी प्रकार से उनके साथ नहीं लड सके।

यह जानना आवश्यक है कि मोहे जो दड़ो सदृश नगर के जनसमुदाय मे किस किस आ-जीविका और धर्म के लोग रहते थे। अब तक प्राप्त वस्तुओं से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नगर किसी देश की राजधानी था। यह प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र था और यहाँ भिन्न भिन्न आजीविकाओं तथा जातियों के लोग रहते थे। यह माना जा सकता है कि उच्च वर्ग के समाज मे पुरोहित, वैद्य या डाक्टर, ज्योतिषी और जादू-गर थे और निम्न वर्ग मे मछुवे, मल्लाह, कृषक, वणिक, भिश्ती, गाडीवान, चरवाहे तथा कुम्हार थे*।

संभवतः उस युग मे भी व्यापारियों ने अपने को एक 'गण' या 'श्रेणी' मे संगठित कर रक्खा था। इस प्रकार 'गणों' के अधीन रह कर निर्धन मजदूर भी थोडा बहुत कमा लेते रहे होंगे। फिर भी यह कहना ही होगा कि मोहे जो दडो की सभ्यता मे आर्थिक असमानता और विषमता थी। समाज का एक शोषित अंग भी था जिसकी भित्ति पर उच्च वर्ग स्थित था। यह असमानता भिन्न भिन्न प्रकार के आभूषणों से भी ज्ञात होती है।

---

* दीक्षित— प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५७ ५८।

मोहे जो दड़ो में उसके यश के दिनों में बड़ी चहलपहल रहती रही होगी। भिन्न भिन्न रूपों तथा वेश-भूषा के लोग इधर उधर दीख पडते रहे होंगे।

खेद है कि मिश्र तथा सुमेर निवासियों की तरह सिंधु प्रांत के निवासियों ने अपने मृतकों के शरीरों को तथा उनके साथ प्रतिदिवस काम मे आनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रबंध नहीं किया। प्राचीन मिश्र निवासियों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य या उसका एक भाग जिसको वे लोग 'का' कहते थे, दूसरे ससार मे जीवित रहता है। आज उन मीलों तक फैले हुए बालू के मैदानों में स्थित पिरामिडों की ओर संसार के पुरातत्त्व-पंडितों की दृष्टि लगी है। इनके अदर इतनी वस्तुएं प्राप्त हुई है कि पुरातत्वशास्त्री बिना कठिनाई के मिश्र के धार्मिक इतिहास का निर्माण कर सकते है। शायद मोहे जो दडो निवासी पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते थे। उन के धार्मिक विश्वास इससे बहुत भिन्न थे। जीवन और मृत्यु तक ही वे मनुष्य-जीवन का अभिनय समझते थे।

मोहे जो दड़ो मे अभी तक कोई शव-स्थान नहीं मिला है। इस कारण उन लोगों के शव-सस्कार के विषय मे हमारी जानकारी बहुत थोडी है। हड़प्पा मे अवश्य एक शव-स्थान मिला है, किंतु सर जॉन मार्शल इसे बहुत बाद का बतलाते

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ३२।
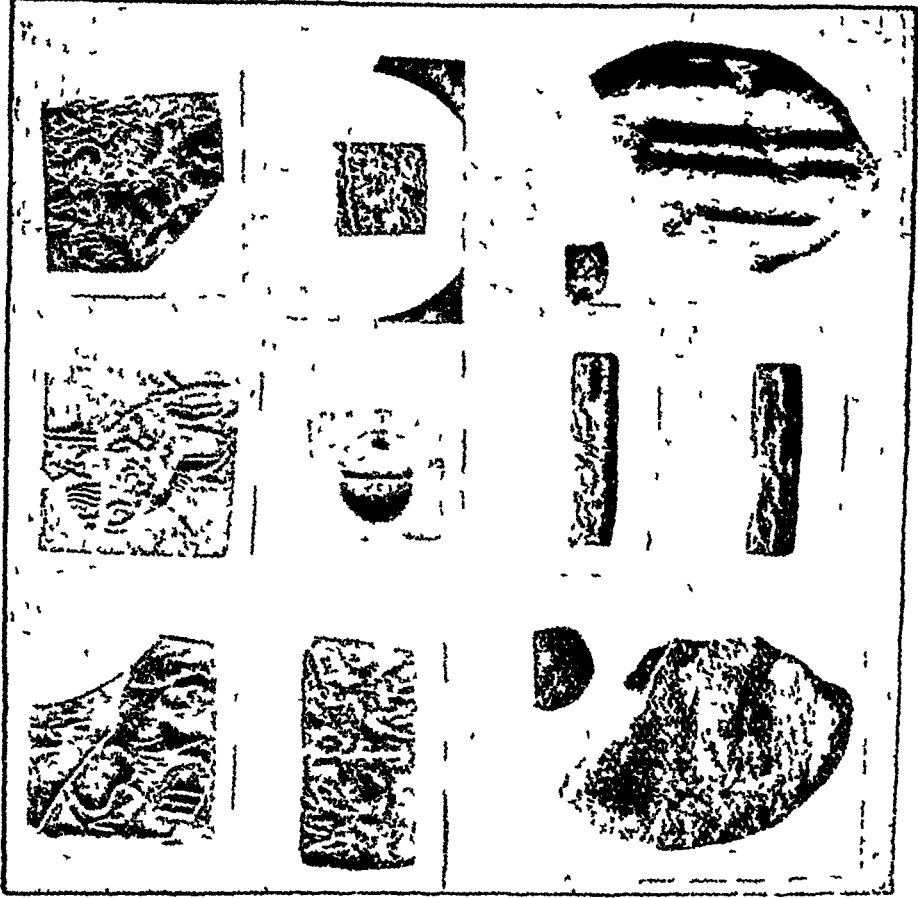
चि० सं० २४ (अ)

चि० स० १३

हैं (चि० स० १३)। उनके अनुसार मोहं जो दड़ो की शव-संस्कार-प्रणालियाँ तीन प्रकार की थीं—

(१) जिसमे शरीर पूरा दफन किया जाता था,

(२) जिसमें हड्डी या शरीर के कुछ भागों को गाडा जाता था। और

(३) अस्थि-फूलों को गाडने की प्रणाली।

पहली प्रणाली के अंतर्गत इक्कीस पंजर हैं। चौदह पंजर एक कमरे में पाए गए हैं। इन पंजरों के साथ कोई मृतक-पात्र नहीं थे। इनके साथ कई आभूषण थे। मार्शल साहब कहते हैं कि इन लोगों की मृत्यु या तो अकाल, महामारी या अन्य किसी आकस्मिक दुर्घटना से हुई है। मृत्यु के थोडी देर बाद ये शरीर दफना दिए गए थे। ये कब्रे उस काल की हैं जब मोहें जो दड़ो नगर अवनति की ओर चल पडा था*।

हडप्पा मे भी पूर्ण शरीरों को दफनाया जाता था। यहाँ की कब्रों मे मृतक-पात्र तथा अन्य सामान भी थे।

किंतु यहाँ के मिट्टी के बर्तनों पर की कारीगरी को देखने से पता लगता है कि ये शरीर सिंधु-सभ्यता के समकालीन नहीं है।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ८१-८२।

नाल तथा शाही टंप (बलूचिस्तान) में भी शव-संस्कार की ऐसी प्रथाएँ थीं*। वहाँ कुछ शरीर तो सुंदर बनाई गई कब्रों पर तथा कुछ मिट्टी के साधारण गड्ढों में रख दिए जाते थे। शाही टंप मे मृतक का मुँह सदैव उत्तर की ओर किया जाता था। इन कब्रों मे सिर तथा पैरों के निकट मिट्टी के बर्तन रखे थे। इन बर्तनों के अंदर जली राख तथा भेड, बकरी की हड्डियाँ थीं। बकरी तथा भेड की हड्डियाँ हडप्पा के शव स्थानों में भी मिलती है। और वहाँ एक स्थान पर तो एक बकरी का पंजर बिल्कुल मृतक के बराबर पड़ा था। ऋग्वेद के एक मंत्र मे अग्नि का आह्वान किया जाता है कि वह बकरी का भक्षण करके मृतक शरीर को स्वर्ग ले जायं†। संभवतः यही विश्वास हडप्पा निवासियों का भी था।

हड़प्पा की खुदाइयों से यह भी ज्ञात होता है कि मृतक शरीर को शवागार मे निर्धारित दिशाओं मे अर्थात् उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर रखा जाता था। यहाँ के पाँच उदाहरणों मे पैर मोड दिए गए थे। किंतु जहाँ पूर्ण शरीर हैं वहाँ पैर बिल्कुल सीधे रखे गए थे। कुछ कब्रों में समाधि वस्तुएँ थीं, किंतु कुछ मे तो एक भी मिट्टी का बर्तन नहीं था‡।

---

* आ० स० मे०, नं० ३५, पृ० २६।

† वत्स—य० ह०, पृ० २३७।

‡ वही, २२६–२७।

ऋग्वेद काल मे भी पूर्ण शरीरों को दफनाने की प्रथा थी*। ऐसी प्रथा शतपथ ब्राह्मण काल तक चलती रही।

दूसरी प्रणाली मे शरीर को मृत्यु के बाद कुछ दिन तक खुले स्थान मे छोड़ दिया जाता था। जब पक्षी शरीर के मांस को खा डालते थे, तो बची खुची हड्डियाँ कब्र मे रख दी जाती थी। ऐसा शवागार मोहे जो दड़ो के एक मकान के आँगन मे था। इनके साथ साथ कुछ मिट्टी के बर्तन भी थे। किंतु तीन उदाहरणों मे एक भी हड्डी नहीं थी†। एक बर्तन मे एक टोकरी भर हड्डियो के साथ अनेक समाधि पात्र, खिलौने आदि आदि थे। जिन बर्तनों मे हड्डियाँ नहीं है उनके लिये कहा जा सकता है, कि खुले स्थान मे छोडने से शरीर की हड्डियाँ तक पशुओं ने खा डाली थी। छोटी हड्डियाँ शायद घडे के अदर ही नष्ट हो गई थीं।

हडप्पा मे भी इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। किंतु इस प्रथा का आगमन वहाँ बाद को हुआ। इन हड्डियों के लिये बने घडों के अंदर कोई भी छोटे छोटे मिट्टी के वर्तन प्राप्त नहीं हुए है। वास्तव मे श्री वत्स ने हडप्पा मे १०० घडों मे से केवल एक घड़े पर एक छोटा बर्तन पाया था। कुछ घडों मे खोपडियाँ तथा हड्डियाँ है। कुछ मे केवल हड्डियाँ ही है। कुछ घडों पर तो एक भी हड्डी नहीं है।

---

* ऋग्वेद, १०, ११, १८।

† मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ८२।

बिल्कुल ऐसी ही प्रणाली नाल में भी थी। यहाँ की कब्रों पर तो केवल कुछ हड्डियों के टुकड़े थे। पूर्ण शरीर का पंजर किसी भी कब्र मे नही पाया गया।

हड़प्पा मे चौड़े मुँह के कई घड़े मिले हैं। इनमे शायद पूरे पजर रखे जाते थे। युवक तथा वृद्ध शरीरों के पैंतीस पंजर, छः ऐसे पंजर जिनकी अवस्था अनिश्चित है, और इक्कीस बड़े बच्चों तथा ग्यारह छोटे बच्चों की हड्डियाँ इन घड़ों मे थीं। इन घडो के इक्कीस उदाहरणों के अंदर तो केवल जमी मिट्टी थी। युवकों तथा वृद्धों के शरीर तो अवश्य ही खुली हवा में छोड़े गए थे*। बच्चों के शरीरों को शायद बाहर खुले स्थानों में नहीं छोडा जाता था।

एक स्थान पर पशुओं तथा मनुष्यों की हड्डियों का समूह पाया गया है। इसमे कई खोपड़ियाँ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्यों के सिर अलग किए गए थे। ये हड्डियाँ या तो ढेर के रूप मे जान बूझ कर रखी गई थीं, या ये अकस्मात् एक दूसरे के ऊपर आ गई है। इनके साथ कोई गहने नहीं थे। यह बतलाना कठिन है कि ये दफनाई हड्डियाँ हैं, या किसी महान् आक्रमण से हत लोगों के शरीरों का ढेर है। पशुओं तथा समाधि के बर्तनों के साथ होने से यह कहा जा सकता है कि इनका शव-संस्कार अवश्य किया गया था†।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १२९।

† —वही—पृ० २०२।

जिन घडों पर केवल राख, कोयला तथा हड्डियाँ है उनसे ज्ञात होता है कि शरीर को जलाने के बाद ये चीजे घडो मे रख दी गई थीं। शायद शरीर को बहुत अच्छो तरह से जलाया जाता था और इसलिये अधिकतर हड्डिया भी अग्नि की लपटों मे स्वाहा हो जाती थी। किंतु पंजाब मे एक दूसरी प्रणाली प्रचलित थी। पजाब मे आज भी यह प्रथा है कि शरीर को जलाने के चौथे दिन बाद चिता से हड्डियाँ इकट्ठी की जाकर धोई जाती है। इसके बाद इनका चूर्ण किया जाता है। यह चूर्ण फिर पवित्र नदियो मे बहाया जाता है। शायद ऐसी ही कोई प्रथा प्राचीन सिंधु प्रात में भी रही हो।

हडप्पा के कुछ घडों पर (जिनके कि २३० उदाहरण प्राप्त हुए हैं) पशु पक्षियो तथा मछलियो की जली राख एव हड्डियाॅ प्राप्त हुई हैं। केवल एक उदाहरण मे मनुष्य की एक हड्डी मिली थी। इन घडों पर मनुष्य की आकृति तथा पशुओं के खिलौने, आभूषण, गुरियाँ, गाडियाँ आदि वस्तुएँ थीं। शायद जलाने के बाद कोई भी हड्डी नहीं बचती थी, किंतु फिर भी राख के साथ मृत मनुष्य के लिये घडों पर कुछ समाधि वस्तुएँ रख दी जाती थीं*।

बलूचिस्तान के डावर कोट, पिरयानो घु डई, मुगल घु डई तथा सुकटागनडोर नामक स्थानों मे भी हडप्पा शैली के बडे बड़े

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ८८।

घड़े मिले थे। ये स्थान सिंधु सभ्यता से विशेष प्रभावित हुए थे। इन घड़ों के अंदर भी वैसा ही समाधि का सामान था जैसा कि हड़प्पा के घड़ों पर पाया गया था। कुछ घड़ों में तो मनुष्य की हड्डियाँ थीं। किंतु कुछ मे मनुष्य की एक भी हड्डी नहीं थी।

दीवारों के आधार पर ५४ घड़ों का एक समूह भी मिला है। इनमे दो घड़ों के अतिरिक्त सब खंडित अवस्था मे है। इनमे मनुष्य की कोई हड्डी नहीं थी। शायद इन घड़ों पर केवल हड्डियों का चूर्ण ही रखा जाता था। इनपर पशुओं की हड्डियाँ, खिलौने, जला धान, कोयला, राख आदि वस्तुएँ पाई गई थी*।

सर जॉन मार्शल की धारणा है कि सिंधु सभ्यता के यश-काल मे वहाँ शरीर को जलाने की ही प्रथा थी। शरीर को खुला छोड़कर फिर कुछ दिन बाद हड्डियों को उठाकर दफनाने की प्रथा मोहे जो दड़ो मे कम थी। किंतु हड़प्पा मे इस ढंग की शव-संस्कार प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित थी। हड़प्पा की प्रणाली मोहें जो दड़ो के बाद की हैं†।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुर्दों को गाड़ने और जलाने की विधियाँ ऋग्वेद काल मे भी थीं‡। किंतु ये दोनों प्रणालियाँ

---

* वत्स—य० ह०, पृ० १७५।

† वही—८६।

‡ मैन इन इंडिया, जिल्द १६, १९३६, पृ० २८५।

दो भिन्न भिन्न युगों की थीं* । कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के मंत्रों को भिन्न भिन्न कालों मे बाँटा है । मैक्समूलर ने ऋग्वेद को प्राचीन और नवीन भागों मे विभाजित किया है† । ये शव प्रणालियाँ भी ऋग्वेद के भिन्न भिन्न कालों में प्रचलित रही होंगी ।

इन शवस्थानों मे भिन्न भिन्न दृश्यों तथा नमूनों से युक्त मिट्टी के बर्तन मिले है । इनसे उस काल के लोगों के सौंदर्य-प्रेम पर ही नहीं वरन् उनके गंभीर धार्मिक तथा दूसरे जन्म-संबंधी विश्वास और विचारधाराओं पर भी अनूठा प्रकाश पडता है ।

मोहें जो दड़ो मे कौन सी लिपि और भाषा प्रचलित थी, यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है । श्री हंटर और प्रोफेसर लैंग्डन ने मुद्राओं तथा तावीजों पर खुदे चिह्नों का निरीक्षण किया है । यह पता नही कि उस काल मे किस वस्तु पर लिखा जाता था । संभव है कि उस समय लकडी की तख्तियाँ या पटरियाँ, लिखने के लिये व्यवहृत होती रही हों ।

संसार के प्राचीन देशों की तरह इस लिपि को भी कुछ विद्वान् चित्र-लिपि मानते है । यहाँ प्राप्त अनेक मुद्राओं के चिह्न सुमेर और मिस्र के चिह्नों की तरह हैं । मिस्टर हंटर तो यहाँ तक

---

* मैक्समूलर —ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५७-४८३ ।

† 'मैन इन इंडिया'—जिल्द १६, १९३६, पृ० २८५ ।

कहते है कि सिधु-लिपि पर आधा प्रभाव मेसोपोटेमिया का और आधा मिस्र का है। सिंधु-लिपि मे थोड़े से पशु-पक्षियों के रूप के चिह्नों के अतिरिक्त अन्य बाते परंपरागत सी है।

यह सभव है कि ये सभी लिपियाँ एक ही स्रोत से निकली हों*। किंतु भिन्न भिन्न देशों मे जाकर इनका रूप बदलता गया। आरंभ मे अनेक देशों की लिपियों में समानता रही होगी; किंतु कुछ ही समय बाद लिपियो मे परिवर्तन हो गया। श्री दीक्षित के विचार से सिंधु-लिपि भारत मे स्वतंत्र रूप मे फली-फूली†।

आश्चर्य होता है कि सुदूर प्रशांत महासागर मे स्थित ईस्टर टापू मे भी सिधु-लिपि जैसी लिपि मिली है।

मिस्टर हंटर के अनुसार सिधु-लिपि संकेतात्मक है और इसकी उत्पत्ति पदार्थ-चित्रों तथा साधारण चित्र-लिपि से हुई है। यह लिपि बाईं ओर से दाईं ओर को पढी जाती थी किंतु कभी कभी यह दाईं से बाईं ओर को भी पढ़ी जाती होगी। इस लिपि की उत्पत्ति तृतीय सहस्राब्दी से बहुत पहले हो गई होगी।

प्रोफेसर लैंग्डन की धारणा है कि ब्राह्मी लिपि सिधु-लिपि से निकली है। किंतु इन दोनों लिपियों के बीच अवश्य कोई

---

* हंटर 'स्क्रुप्ट ऑव मोहें जा दड़ा ऍंड हडप्पा', पृ० ४६।

† दीक्षित प्री० सि० इ० व०, पृ० ४६।

लिपि रही होगी। स्व० डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल तो इनके बीच की लिपि को विक्रम खोल की लिपि मानते हैं।

कुछ विद्वान् इन मुद्राओं मे द्राविड भाषा के कुछ चिह्न पाते है। बलूचिस्तान में 'ब्राहुई' जाति को पाकर इनका अनुमान है कि द्राविड पश्चिम एशिया से यहाँ आकर बसे थे। अनेक पण्डित इस धारणा पर आपत्ति करते हैं। द्राविड़ भाषा का मूल ये लोग दक्षिण भारत मे मानते हैं। ब्राहुई लोगों के विषय मे कहा जा सकता है कि वे लोग दक्षिण भारत के समुद्र-तट के पश्चिमी देश के साथ होनेवाले व्यापार के सिलसिले मे उत्तर-पश्चिम में जा बसे हों; और एक द्राविड़ उपनिवेश सूचित करते हों*। सिंधु-प्रांत की लिपि तीन भागों (१) अक्षरों (सिलेब्ल), (२) पदार्थ-चित्रों (आइडियोग्राम) और (३) निर्धारकों (डिटर्मिनेशन्स) में विभाजित रही होगी। प्रत्येक मुद्रा पर इन्हीं मे से एक चिह्न रहता था। परतु कई मुद्राओं पर ये तीनों चिह्न साथ हैं। चिह्नों द्वारा अर्थ को पूरा करने के लिये पदार्थ-चित्रों तथा निर्धारकों से सहायता ली जाती थी। प्रायः सभी चिह्न लिपि के अत मे है। जहाँ ऐसे चिह्न मध्य मे है वहाँ शब्द-विभाजन हो जाता है। कुछ अंशों में तो चिह्न स्वयंबोधक है और कुछ में वे पदार्थ के अर्थ के बोधक हैं।

---

* जयचद्र विद्यालकार—'भारतभूमि और उसके निवासी,' पृ० २४०।

इन मुद्राओं पर क्या लिखा है, यह ज्ञात नहीं है। सभवतः इनपर किसी के नाम लिखे है। सभव है, कुछ मुद्राएँ व्यापार के गट्ठों पर लगी मिट्टी की पट्टियों पर छापी जाती रही हों। एक गट्ठे पर तो वास्तविक मुद्रा मिट्टी की मुद्रा के साथ चिपकी मिली थी।

भारत के प्राचीनतम सिक्कों—कार्षापणों—पर भी सिंधु-लिपि जैसे चिह्न अंकित है। ऐसा विदित होता है कि प्राचीन भारत की परंपरा ही के कारण ये चिह्न इन सिक्कों मे आए है*। कतिपय विद्वानों जैसे जेम्स प्रिसेप तथा विल्सन ने कहा है कि भारत मे कार्षापण सिक्के या सिक्कों का प्रचलन यहाँ बाख्त्री यूनानियों के द्वारा हुआ। किंतु मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा की मुद्राओं के कुछ चिह्नों तथा कार्षापण सिक्कों के चिह्नों की समानता देखकर ये धारणाएं सारहीन ठहरती हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मूर्तिकला के जो उदाहरण भारत में प्राप्त हुए है†, उनसे भी ज्ञात होता है कि इस शताब्दी मे लोग कार्षापण सिक्कों से परिचित थे। कनिंघम ने इस संबंध मे अनेक महत्त्व की तथा पांडित्यपूर्ण धारणाएँ पेश की है‡। वे पठनीय

---

* ज० ए० सो० बं० —न्यूमिस्मेटिक सप्लिमेंट फॉर १६३४, पृ० १६-१७।

† मजूमदार—'ए गाईड टू दि स्कलपचर इन दि इंडियन म्यूजियम, भाग १, पृ० ४६।

‡ कनिंघम—क्वायन्स ऑव एशंट इंडिया, पृ० ५२-५४।

हैं। इस प्रकार सिंधु प्रांत के कुछ चिह्नों की परंपरा बाद को कार्षापण सिक्कों में भी आई।

यहाँ पर यह बतलाना भी उचित है कि इस प्रकार के अनेक चिह्न असीरिया, मिस्र तथा स्कॉटलैंड में भी चित्रित किए गए थे। एक विद्वत्तापूर्ण लेख में मि० थियोबाल्ड ने ऐसे चिह्नों का प्रागैतिहासिक उद्गम घोषित किया है*।

पंचम अध्याय

धर्म

चिरकाल से भारत धर्मप्रिय देश रहा है। यहाँ के आचार तथा विचार की भित्ति केवल धर्म पर खड़ी है। राज-नीति, अर्थनीति, कला, साहित्य, सामाजिक विचार, पारस्परिक व्यवहार, सब इस देश मे धर्म द्वारा शासित होते हैं। इस प्रकार भारत मे धर्म ही जीवन है। सिलवेन लेवी ने ठीक ही लिखा है—"भारतभूमि में मानव परमात्मा मे सने हुए हैं। ईश्वर को मनुष्य चाहे किसी भी रूप में पूजे, वह ईश्वर को देखता है, सुनता है। वह उसका एक अंश है और स्वयं ईश्वर में, अपने जीवन के प्रतिक्षण मे, वर्त्तमान रहता है*।" यदि हम मोहे जो दड़ो तथा सिंधु सभ्यता को विशुद्ध हिंदू धर्म के अंतर्गत मानते है तो हमे यहाँ भी धर्म का दृढ़ प्रभाव देखना चाहिए।

किंतु समस्त सिंधु-प्रांत मे एक भी ऐसी वस्तु प्राप्त नही हुई है जिसे कि हम स्पष्ट रूप से धार्मिक महत्त्व दे सकें। आज तक वस्तुओं का जो विश्लेषण विद्वानो ने किया है वह अनुमान तथा कल्पना के ही आधार पर। इन ५००० वर्षों मे तो

---

* ओडेट्टी वुहल—इडियन टेम्पल्स, पृ० ११।

कई नए ससारो तथा सभ्यताओं का अभिनय होता रहा है। और वर्त्तमान काल में ५००० वर्ष की प्राचीन वस्तुओं के वास्तविक रूप को जानना कठिन ही नहीं बहुत अंशों में असंभव भी है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में मंदिर सदृश कोई इमारत नहीं मिली है। कुछ इमारतें, जो बनावट मे असाधारण हैं, मन्दिर मान ली गई हैं। श्री दीक्षित ने एक विचित्र इमारत को खोद निकाला था। इसका आँगन ६० फी० ६ इ० लंबा और ४७ फी० ४ इं० चौडा है। इस आँगन मे तीन कुएँ हैं। श्री दीक्षित इस इमारत को मन्दिर बतलाते हैं। इन कुओं से लोग पानी लेकर सर्वप्रथम अपने को शुद्ध करते रहे होंगे और तब मन्दिर में प्रवेश करते रहे होंगे*। सर जॉन मार्शल भी कुछ भवनों को मंदिर बतलाते हैं। उनका कहना है कि मेसोपोटेमिया के कुछ मंदिर राजमहलों के ही सदृश थे। शायद इसी ढंग के मंदिर मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे भी रहे हों।

सर जॉन मार्शल की एक धारणा यह भी है कि मोहें जो दड़ो में मंदिर लकड़ी के बनते थे†। यह धारणा एकाएक मान्य नहीं हो सकती। जब मोहें जो दड़ो में विशाल से विशाल इमारतों के लिये सुन्दर पक्की ईंटे प्रयुक्त हो सकती थीं

से कोई कारण नहीं है कि मंदिरों के लिये भी यही ईंटें काम मे न लाई जाती रही हों। हमारा अनुमान है कि यदि मोहे जो दड़ो में बडे बडे मंदिर नहीं थे, तो लोग मूर्तियों की स्थापना अपने भवनों के किसी कमरे में ही करते रहे होंगे।

प्राचीन काल के प्राय: सभी प्रमुख देशों मे धर्म का उच्च स्थान था। मोहे जो दडो तथा सिंधु-प्रांत में भी धर्म का प्रभाव था। किंतु उनका दृष्टिकोण अधिकतर 'मतलब से मतलब' वाली उक्ति पर आधारित था। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि मिस्र की तरह यहाँ अधिक पुरोहित-प्रभाव नहीं था या उन लोगों के राजा सुमेर के पुरोहित राजाओं की तरह नहीं थे*।

मोहे जो दड़ो तथा हडप्पा में एक प्रकार की मृण्मूर्त्तियाँ मिली है जिन्हे पुरातत्त्वशास्त्री मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते है (चि० सं० ४, ५, ६)। इस वर्ग की सैकड़ों मूर्त्तियाँ सिंधु-प्रांत मे पाई गई है। ये मूर्त्तियाँ प्राय: नग्न हैं। केवल वे कमर के नीचे एक पटका पहिने रहती हैं। इनके पैर बिल्कुल चिपटे हैं। पैरों की उँगलियाँ दिखलाने का इनमें कभी प्रयत्न नहीं किया गया। ये प्राय: आभूषणों से लदी हुई हैं। कई उदाहरणों मे तो मालाएँ नाभि तक पहुँच गई हैं।

मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल मे ईजियन से सिंधु-प्रांत के बीच के सभी देशों मे जैसे इलम, फारस, मेसोपोटेमिया, ट्रैंस-

---

* दीक्षित—प्री० सि० इ० वे०, पृ० ३३।

चि० स० ५

कास्पिया, लघु एशिया, मिस्र तथा सीरिया में प्रचलित थी। इन देशों की मूर्त्तियों मे इतनी विशिष्ट समानताएँ हैं कि यह धारणा स्वीकार करनी पडती है कि प्रागैतिहासिक युग मे मातृपूजा का भूमध्यसागर से भारत तक प्रचार हुआ था*। बलूचिस्तान मे भी कुछ मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियाँ मिली है, किंतु यहाँ की मूर्त्तियों में सिर तथा धड ही बनाया जाता था। इनमें पैरों को न बनाकर कमर के नीचे एकदम चिपटा कर दिया गया है।

अधिकतर विद्वानों की धारणा है कि ये मूर्त्तियाँ माता प्रकृति की हैं। मातृदेवी की पूजा आदि के सबध मे कुछ विद्वानों का मत है कि एशिया माइनर के अनातोलिया प्रदेश की जो सबसे प्राचीन सभ्यता थी वहाँ से इस पूजा का प्रारभ हुआ। यहीं से यह पूजा फिर ससार के और देशों मे फैली।

मातृदेवी की पूजा की उत्पत्ति धरती माता की पूजा से ही हुई। प्रकृति ही ससार में मनुष्य का पालन पोषण करती है। मेसोपोटेमिया की कुछ पुस्तकों मे प्रकृति को पृथ्वी की रानी कहा गया है। बेबीलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवी अनाज की बाल के डंठल के साथ दिखलाई गई है। मेसो-पोटेमिया के अन्य लेखों से ज्ञात होता है कि मातृदेवी नगर-

---

* इं० हि० क्वा०, सितबर, १९३४, पृ० ४१४।

निवासियों की हर प्रकार की व्याधियों से रक्षा करती थी*। इन्हीं दृष्टि-कोणों से सिंधु प्रांत मे भी मातृदेवी की पूजा होती रही होगी। फरात, टिगरिज, नील और सिंधु नदी के तट पर रहनेवाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी। फिर यह स्वाभाविक है कि वे पोषण करनेवाली खेती की देवी या धरती माता की सर्वप्रथम पूजा करते थे।

'उपज' की देवी का चित्रण हम बाद की भारतीय कला में भी पाते हैं। साँची स्तूप के एक परिचक्र पर उपज की देवी का चित्रण है। फूलों से अंकित अर्ध परिचक्र के नीचे धनुषाकार द्वार पर कोई स्त्री खडी है। इसके नीचे दूसरा परिचक्र है। इस परिचक्र के कमल पर दोनों शाखाओं सहित एक अर्धनग्न स्त्री की आकृति है। सर जॉन मार्शल के मतानुसार यह लक्ष्मी या उपज की देवी का चित्रण है†।

प्राचीन काल की सबसे अधिक प्रचलित देवी 'वासिनी' थी। इसका वर्णन गृह्य सूत्र मे मिलता है। शतपथ ब्राह्मण काल में श्री देवी प्रमुख हो गई थी। फिर पौराणिक हिंदू काल में मातृदेवी अन्य देवताओं की श्रेणी मे स्थायी रूप से आ जाती है।

ऋग्वेद मे मातृदेवी या महामाई के लिये अदिति, प्रकृति तथा पृथ्वी माता शब्द प्रयुक्त हुए है। यथा अदिति के लिये

---

* 'कलकत्ता रिव्यू', जिल्द ३९. १९३१, पृ० २३०-२३१।

† मार्शल—'ए गाइड टु साँची', पृ० १४०।

चि० सं० ८
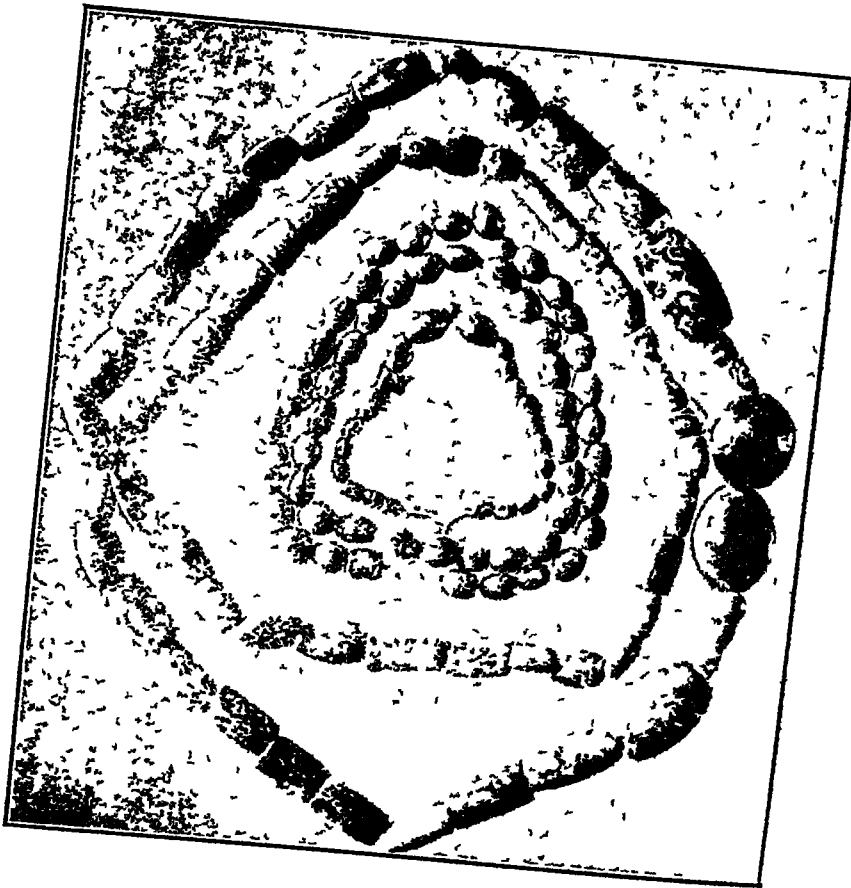
चि० सं० १०

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वेदेवा अदिति, पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥*

कुछ मंत्रों मे वह मही माता, सुपुत्रा आदि नामों से संबोधित की गई है†। अदिति के रूप तथा गुण वैसे ही थे जैसे कि ब्राह्मण तथा पौराणिक साहित्य मे वर्णित मातृदेवी के हैं। अदिति कभी कभी माता पृथ्वी भी कहलाती है। यथा–

(१) नमो मात्रे, पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै ।‡

(२) इय पृथ्वी वै माता ।§

आजकल भारत मे चंडी, दुर्गा, भवानी आदि आदि नामों से अनेक देवियाँ भारत के घर घर मे पूजी जाती हैं। कुछ स्थानों मे देवियों को रोग की उत्पादिकाएँ तक माना गया है। शीतला तथा सग्रहणी रोगों की देवियाँ वर्ष मे एक बार अवश्य पूजी जाती हैं। गाँवो की अलग अलग ग्रामदेवियाँ भी होती है।

एक दूसरे वर्ग की मृण्मूर्तियाँ वे हैं जिनमे भिन्न भिन्न दृश्य दिखलाए गए है (चि० नं० ८)। कुछ उदाहरणों मे बच्चे स्त्रियों के

---

* ऋग्वेद १, ८९, १०।

† इस विषय पर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख जो 'इ डियन कल्चर' अप्रैल १९३८ की सख्या मे प्रकाशित हुआ था पठनीय है।

‡ यजुर्वेद ९, २२।

§ तैत्तिरीय सहिता, ३,८,९,१।

स्तन पान कर रहे हैं। गर्भवती स्त्रियों की मूर्त्तियाँ भी प्रायः खुदाई मे प्राप्त हुई है। हडप्पा से प्राप्त मिट्टी के एक मोटे तख्ते पर एक गर्भवती स्त्री लेटी है*। दूसरे उदाहरण में एक स्त्री अपने सिर पर किसी पात्र मे रोटियाँ लिए हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूर्त्तियाँ प्रायः मंदिरों मे भेंट की जाती थीं और इसका ध्येय देवी देवताओं से पुत्र-वरदान माँगना था†। प्रकृति देवी का चित्रण हडप्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पष्ट है। इस मुद्रा मे एक स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकल रहा है। बाईं ओर ६ अक्षरों के लेख के बाद दो पशु हैं। इस मुद्रा की दूसरी ओर फिर वही लेख है। लेख की बाईं ओर एक पुरुष तथा स्त्री का चित्रण है। स्त्री दोनों हाथों को ऊपर उठाए बैठी है। पुरुष के दाएँ हाथ में हँसिए की तरह कोई वस्तु है। सभवतः मुद्रा की दूसरी ओर अंकित देवी को यह स्त्री बलि दी जा रही हो‡।

भीटा में प्राप्त बाद को एक मूर्त्ति पर भी ऐसे ही भाव का चित्रण है। इस मूर्त्ति मे एक स्त्री के गले से कमल निकल रहा है§। कौशांबी से भी एक ऐसो ही मूर्त्ति प्राप्त हुई थी‖।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ३०० ।

† मैके—इं० सि०, पृ० ८८-८९ ।

‡ मार्शल-मो० इं० सि०, पृ० ७० ।

§ आ० स० रि० १६११-१२, प्ले०१३ चि० ४० ।

‖ कलकत्ता म्यूजियम कैटलाग, जिल्द २, पृ० २६६ ।
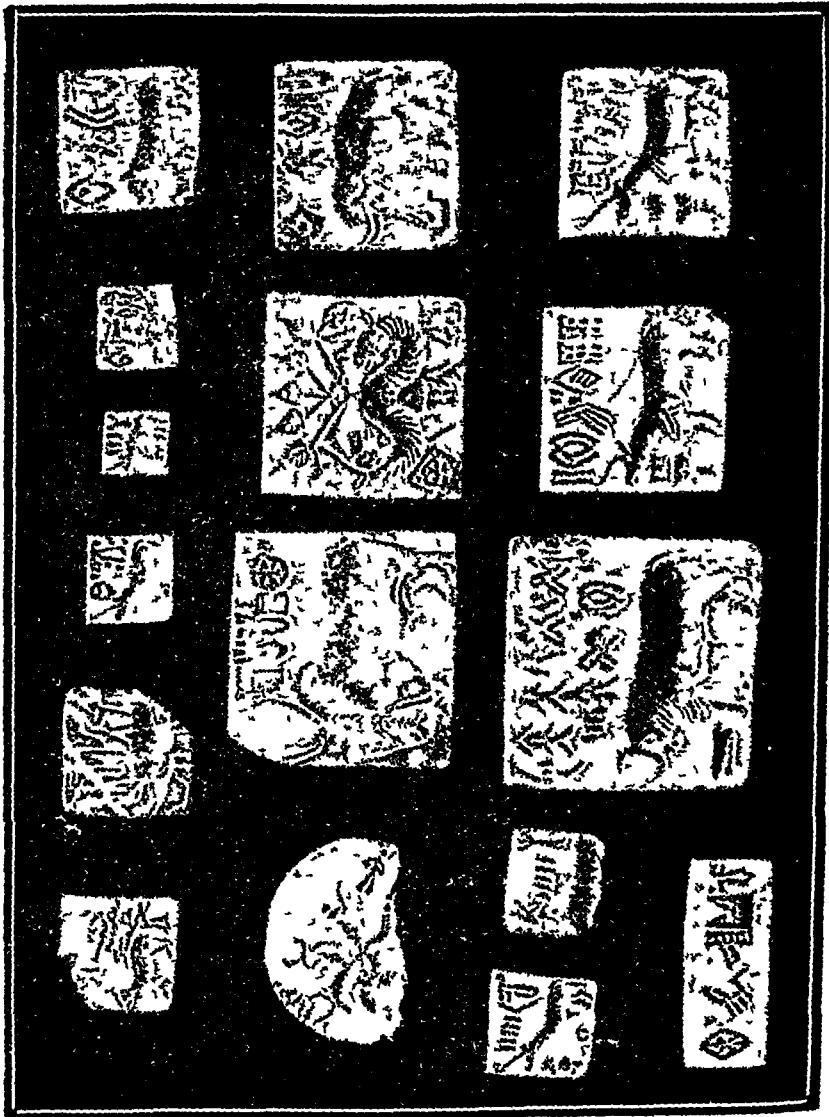
चि० स० २४ (ब)

एक दूसरी फियास की मुद्रा मे एक स्त्री पलथी मारकर बैठी है। इसके दोनों ओर नागा पुजारी है। स्त्री के ऊपर पीपल की पत्तियों का चित्रण है। एक और बडी विचित्र मुद्रा मोहे जो दडो मे प्राप्त हुई है। इसमे पीपल जैसे वृक्ष के तने से दो जुडे हरिणों के सिर निकल रहे है।

मातृदेवी की मृण्मूर्त्तियाँ भारत मे बहुत काल तक चलती रहीं। प्राक् मौर्य्य, मौर्य्य, शुंग तथा कुषाण काल की असख्य मृण्मूर्त्तियाँ भारत के प्राचीन स्थानों से प्राप्त की गई है।

मि० मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली थी जिसे पुरातत्त्व-पडित प्रागैतिहासिक शिव का चित्रण मानते हैं [चि० २४ (अ)]। इस आकृति में शिव के तीन चेहरे है। हाथ दोनों ओर घुटनों के ऊपर रक्खे है और शिवजी पलथी मारकर पूर्ण योग की अवस्था में एक तिपाई पर बैठे है। तिपाई की दाईं ओर चीते तथा बाईं ओर गैडे और भैस का चित्रण है। ठीक शिवजी के सम्मुख द्विश्रृंगी हिरण खडे है। कलाई से लेकर बाजुओं तक बाजू-बंद है। सिर पर दो सींग है जो सिरबंद से बँधे है। वक्ष पर कोई त्रिकोण ढग का आभूषण सा है जो कई लडियों को जोडकर बनाया जान पडता है। मुद्रा के ऊपरी भाग मे सात शब्दो का एक लेख भी है*।

ऐतिहासिक युग मे शिवजी की मूर्त्तियाँ प्राय. २, ३ तथा ४ मुखों की मिलती है। शिवजी की बाद की एक दर्शनीय त्रिमुख

---

* आ० स० रि०, १६२८-२६, पृ० ७४।

मूर्त्ति आबू पर्वत के निकट देवांगणा नामक स्थान में मिली है। यह आश्चर्य सा है कि भारतीय शिल्प की मध्यकालीन पूर्वी शाखा में शिवजी की एक, चार और पाँच मुखों वाली मूर्त्तियाँ ही मिली है। त्रिमुख मूर्त्ति का कोई उदाहरण इस शाखा मे नहीं है*।

इस मुद्रा पर हम शिवजी के तीन ही मुख देखते हैं किंतु यह संभव है कि चौथा मुँह पीछे छिप गया हो। श्री मुकर्जी का कथन है कि यह शिवजी की पशुपति-रूप की आकृति है। उनका कहना है कि देवता के सिर पर जो सींग है वे त्रिशूल के द्योतक हैं†। श्री मुकर्जी ने इस देवता को पशुपति-रूप मे इसलिये माना है कि इस देवता के सम्मुख पशु चित्रित किए गए है। किंतु सींगों को हम एकाएक त्रिशूल नहीं मान सकते। ऐसे सींग प्रायः मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे प्राप्त मुद्राओं पर भी दीख पड़ते है। प्राचीन काल में सींग धार्मिक प्रतीक समझे जाते थे। सुमेर, बेबीलोन तथा ईरान में तो पुरोहित और राजा सींगों को पहिनते थे। ये राजा उस काल मे ईश्वर के अवतार माने जाते थे। मथुरा मे भी बाद का, मेष के श्रृंगों से अलंकृत, एक राजा का सिर मिला है। जान पड़ता है कि मथुरा की कला मे यह भाव ईरान से लिया गया था‡। ऐसे ही दो

---

* बनर्जी—ईस्टर्न स्कूल ऑव मेडीवल स्कलपचर, पृ० ११०-११।

† मुकर्जी—हिस्ट्री ऑव हिंदू सिविलाईजेशन, पृ० २०।

‡ अग्रवाल—ए हैंडबुक ऑव दि मथुरा म्यूजियम (हिं०), न० १८ (बी)।

सींग मोहे जो दडो मे प्राप्त एक धातु की आकृति के भी है (चि० सं० २१)। सभवतः सिंधु-प्रात के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक भावना के प्रतीक हों। सर जॉन मार्शल कहते है कि ऐतिहासिक युग में आकर यही त्रिश्रृग प्रतीक त्रिशूल के रूप मे आया।

ऋग्वेद युग तथा उसके बाद के शिव के त्रिमुख रूप का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। वैदिक युग के बाद शिव को त्रिनयन (त्र्यंबक) अवश्य कहा गया है। त्र्यबक का अर्थ शायद तीन माताओं वाला देवता है। मोहे जो दडो की शिव-आकृति मे तीन देवताओं (जिनकी तीन अलग अलग माताएँ थीं) को एक करने का प्रयत्न किया गया है*।

सर जॉन मार्शल को इस मुद्रा के शिव मे लिग नहीं दिखाई पडा। किंतु ध्यान से देखने से पता लगता है कि आकृति के साथ ऊर्ध्व लिग भी है। सस्कृत साहित्य की अनेक पुस्तकों मे लिखा है कि शिव-मूर्त्तियों मे ऊर्ध्व लिंग का होना आवश्यक है। ऊर्ध्व लिंग सहित शिवजी की अनेक मूर्त्तियाँ भारत के पूर्वी भाग, बिहार, उडीसा तथा बंगाल मे मिलती हैं। लिग-सहित शिवजी को पूजने की प्रथा शायद मोहे जो दडो निवासियों का ज्ञात थी†।

---

* ज० इ० सो० ओ० आ० अगस्त-दिसबर, १९३७, पृ० ७५।

† इडियन कल्चर—अप्रैल १९३६, पृ० ७६७।

शिवजी की दूसरी मूर्त्ति एक ताम्रपट्ट पर अंकित है। इसमे भी भगवान् शिव योगासन साधे हुए है। शिवजी के दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो भक्त है। दो घेरकर बैठे हुए सर्प सम्मुख बैठे है। यहाँ पर शिवजी का सबध नागों से दिखलाया गया है। शिवजी अपने गले मे सर्प धारण किए हुए हैं*।

एक दूसरी मुद्रा के दृश्य में एक शिकारी हाथ में धनुष बाण लिए है। श्री रामचद्र दीक्षितार कहते हैं कि इसमे शिवजी शिकारी के रूप मे दिखलाए गए है।

ऋग्वेद में हम रुद्र ही का वर्णन पाते हैं। इसमे रुद्र को विद्युत् माना गया है। वह पशु-पक्षियों को इधर-उधर मारा करता है। इसलिये रक्षा के हेतु सब पशु उसके अधीन छोड़ दिए जाते हैं। (अथववेद ११,६,९)। विद्युत् को लोग प्राय: एक पत्थर के टुकड़े के रूप मे मानकर पूज लेते हैं। ब्लिवेनबर्ग ने यह प्रमाणित किया है कि ऐसे पत्थरों की पूजा संसार के कई भागों में होती थी। अभी तक भारत के दक्षिण भाग मे भी ऐसे पत्थर पूजे जाते हैं। आश्चर्य है कि दक्षिण भारत मे एक पत्थर के ऊपर त्रिशूल भी पड़ा था। विद्युत् के पत्थरों और लिंग के बीच बडी समानता है। मोहे जो दड़ो के लिंगों और इनकी समानताओं को देखकर मालूम होता है कि मोहे जो दड़ो मे भी रुद्र की पूजा होती थी†।

---

* मौडर्न रिव्यू—जिल्द १२, पृ० १५७।

† इंडियन कल्चर –अप्रेल १९३६, पृ० ७५७।

मोहें जो दड़ो निवासी योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। पुराण, तंत्र और वेद इन तीनों की दृष्टि से योग सम्प्रदाय एक अति प्राचीन संप्रदाय माना जाता है। प्राचीन योगशास्त्रों मे लिखा है कि योग-साधन के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता है—(१) ठीक आसन, (२) सीधा मस्तक, धड और ग्रीवा तथा (३) अर्द्धनिमीलित नेत्र, जो नासिका के अग्र भाग पर स्थिर हों। श्री रामप्रसाद चंदा के अनुसार मोहे जो दडो के पुजारी की मूर्त्ति योगासन का परिचय देती है*। इस मूर्त्ति मे नेत्र खुले हुए और नाक की ओर स्थिर है। इस मूर्त्ति के अतिरिक्त कुछ मुद्राओं मे भी योगासन के सकेत मिलते हैं। फियांस की मिट्टी पर एक आकृति चबूतरे या तिपाई पर बैठी है। इसके दोनो ओर हाथ जोड़े कुछ भक्त है, जिनके पीछे दो नाग फण को ऊपर किए हुए हैं। इस बीच मे बैठी हुई आकृति के बैठने के ढग से मालूम होता है कि यह कोई देवी है और योगासन से बैठी है। मोहे जो दडो के शिव को योगासन में हम पहिले ही देख चुके हैं। इनके अतिरिक्त लगभग छः मुद्राओं पर की आकृतियाँ योग की कायोत्सर्ग दशा को सूचित करती हैं। इनके खड़े होने के ढंग बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे हम शास्त्रों मे पाते है।

---

* आ० स० मे०, नं०, ४१, पृ०२१।

प्राचीन काल में परिव्राजक साधुओं का एक ऐसा समुदाय था जो किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता था। ये साधु जितेंद्रिय होते थे। आज दिन भी भारत के तीर्थस्थानों में कई प्रकार के योगी देखने मे आते हैं। संभवतः यह परंपरा सिंधु-प्रांत से ही अब तक चली आ रही है। वायुपुराण के पाशुपत योग विषयक अध्यायों मे योग की जिन दशाओं का वर्णन है उनमे और मोहें जो दड़ो मे प्राप्त मूर्त्तियों तथा मुद्राओं पर अंकित आकृतियों के आसनों मे बड़ी समानता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग मे जो योगी सिंधु-प्रांत में रहते थे, उनकी योग-साधना ही पाशुपत योग का प्रारंभिक रूप थी*।

कालांतर मे बौद्ध और जैन धर्म के कारण योग का प्रचार बढ़ा। ये योग की दशाएँ इन धर्मों के उत्थान काल की मूर्त्तिकला मे भी दिखाई पड़ती हैं। किंतु भारत मे बुद्ध या जैन तीर्थंकरों की (केवल एक उदाहरण के अतिरिक्त) कोई भी मूर्त्तियाँ प्रथम शताब्दी तक नही बनीं। तब कैसे मोहें जो दड़ो तथा आरंभिक बौद्ध या जैनकालीन मूर्त्तियों मे किस प्रकार शृंखला बाँधी जा सकती है? यह हो सकता है कि इस बीच किसी योग से अनभिज्ञ सभ्यता का बोलबाला रहा हो। इस सभ्यता के भी अवशेष हमे शायद निकट भविष्य में प्राप्त हो सकें।

---

* दीक्षितार—कल्याण, "योगांक", पृ० २३७।
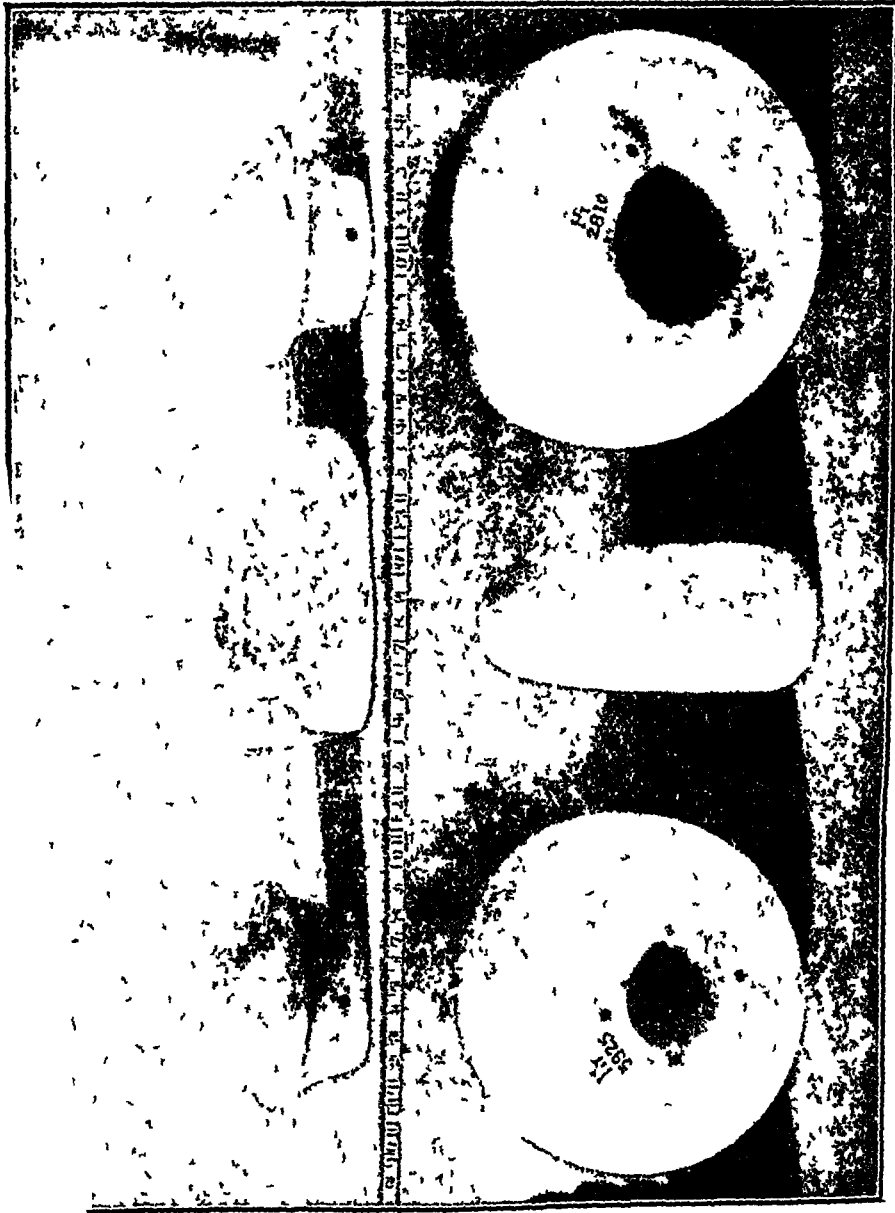
चि० स० ६

मोहे जो दड़ो मे लिंग के आकार की कई वस्तुएँ मिली हैं (चि० सं० ९)। हिंदू धर्म मे भगवान् शिव और माता पार्वती केवल मनुष्य रूप ही मे नहीं वरन् लिंग और योनि के प्रतीकों मे भी पूजे जाते हैं। लिंग की उत्पत्ति का काल और स्थान हमें ज्ञात नहीं। मि० वार्थ कहते है कि किसी काल मे देवताओं के प्रतीकों की खोज में अकस्मात् हिंदुओं को योनि और लिंग मिल गए। ऐसी आकस्मिक प्राप्ति उन लोगों के बीच जो ईश्वर को पुरुष और बैल के रूप मे पूज सकते थे, अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती* ।

लिंग का वर्णन ऋग्वेद मे भी है। पौराणिक साहित्य मे यह शब्द विशद रूप मे प्रयुक्त हुआ है। विष्णुपुराण में लिंग और योनि दोनों का वर्णन है। किंतु लिंग का प्रत्यक्ष वर्णन सर्वप्रथम रामायण मे आता है। कहते हैं कि रावण ने स्वर्ण का एक लिंग बनवा रखा था और जहाँ भी वह जाता, इस लिंग को अपने साथ ले जाता था। महाभारत के कई स्थलों मे लिंग का वर्णन आया है।

प्रागैतिहासिक युग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आर्यों से पहिले के लोगों मे भी लिंगपूजा प्रचलित थी। इन लोगों के बीच मे ये करामाती या धार्मिक प्रतीक समझकर पूजे जाते थे। भारत मे ऐसे अनेक उदाहरण दक्षिण-भारत मे

---

* वार्थ—रिलिजन्स ऑव इंडिया, पृ० २६१।

पाए गए हैं। मि० फुट को नवीन पाषाण-युग का एक सुंदर लिंग दक्षिण भारत मे प्राप्त हुआ था*। भारत में संभवतः आर्य्य लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों से लिंग तथा इसके प्रतीकों के नाम लिए†।

ऐतिहासिक युग के या उससे भी कुछ पहिले के दो शिव-लिंग—एक गुडीमल्लम (दक्षिण भारत) मे और दूसरा भीठा (प्रयाग) में—प्राप्त हुए हैं‡।

सर जॉन मार्शल ने मोहेंजो दड़ो मे पाए गए लिंगों को दो भागों-(१) फैलिक (लिंग) और (२) बेईटिलिक (सिरे पर नुकीले लिंग)—मे विभाजित किया है। इनमे से कुछ लिंग तो ऐसे हैं जिनकी महत्ता के विषय में कुछ संदेह ही नहीं हो सकता। सर औरियल स्टाईन को बलूचिस्तान मे भी कुछ लिंग मिले हैं। जान पड़ता है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में संसार के कई देशों में लिंगोपासना प्रचलित थी। मिस्र, यूनान, रोम आदि देशों मे बाल-पीट की पूजा होती थी। ये ईश्वर लिंग संप्रदाय से संबध रखते हैं। मोहेंजो दड़ो तथा हड़प्पा में बड़े लिंग तो साधारण या

---

* फुट—इडियन प्रीहिस्टॉरिक ऍंड प्रोटोहिस्टॉरिक एंटिक्विटीज, पृ० ६१।

† इं० हि० क्वा०, मार्च १६३४, पृ० २२।

‡ गोपीनाथ राव—एलीमेन्ट्स ऑव हिंदू आईकनोग्राफी, पृ० ६३-६६।

चूने के पत्थर के बने है और छोटे लिंग प्राय: फियास या घोंघे के है। इनकी ऊँचाई आध इंच से लेकर एक फुट तक है। कुछ लिग तो इतने छोटे हैं कि उन्हें पाँसों के राजा मानने के अलावा उनका कोई दूसरा प्रयोग नहीं सूझता। किंतु बडे लिग निस्सदेह पूजा के लिये थे। सर जॉन मार्शल कहते है कि बड़े लिंग भिन्न भिन्न सप्रदायों के रहे होंगे और छोटे लिगों को लोग प्राय: अपने ही पास रखते होंगे। छोटे लिंगों को लोग इधर उधर ले भी जा सकते थे।

वेईटिलिक लिंग कई आकारों मे हैं। कई तो २ फुट २ इंच ऊँचे है। आकार मे तो ये आजकल प्रचलित लिगों की ही तरह हैं, किंतु पहले वर्ग के लिंग देखने में अधिक सुंदर हैं। एशिया के पश्चिमी देशों मे भी ऐसे ही लिंग पाए गए है। वेईटिलिक भी शुद्ध लिंग हैं। शैव धर्म जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे वेईटिलिक लिंगों का रूप 'साधारण लिगों के साथ मिलने लगा। इस कारण हम देखते हैं कि मध्य तथा आधुनिक काल के अधिकतर लिग वेईटिलिक रूप के है*।

इनके अतिरिक्त मोहे जो दडो तथा हडप्पा मे बीच मे छिद्र सहित कुछ पत्थर के मंडल भी मिले हैं। इनका घेरा आध फुट से लेकर चार फुट तक है। बड़े मंडल तो पत्थर के तथा छोटे फियांस, घोंघे आदि के बने है। इन मडलों के प्रयोग के विषय

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ६१।

में भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये स्तंभ आधार थे किंतु छोटे छोटे मंडल किस काम आते थे, इस बात का वे संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। शायद इनमे से कुछ मंडल करामाती भी समझे जाते थे। यह विश्वास भारत के कुछ भागों मे अभी तक चला आ रहा है। मलाबार तट पर तो इनका आज दिन भी अच्छा प्रचार है। इनको अपने पास रखना शुभ समझा जाता था। कुछ मंडल उस युग के लिगों के गौरीपट्टम का काम भी देते थे।

सर जॉन मार्शल कहते है कि ये मंडल योनियाँ है। लिंगों के साथ योनियों का होना स्वाभाविक ही है। तक्षशिला मे भी कुछ ऐसे मंडल मिले हैं। इन मंडलों के भीतरी भाग मे उत्पत्ति की देवी का चित्रण है। इससे मालूम होता है कि ये मडल मातृदेवी की उपासना से संबंध रखते थे। किसी समय शैव सम्प्रदाय के प्रभुत्व मे लिंग तथा योनि की पूजा साथ साथ चलती रही होगी*।

यहाँ पर यह कहना भी उचित होगा कि सभी मंडल योनियाँ नहीं थे। इनमें कुछ उदाहरण अवश्य ऐसे है, जिनका प्रयोग ज्ञात नहीं हो सका है।

मोहे जो दड़ो से प्राप्त वस्तुओं से शाक्त धर्म के विषय में कुछ विशेष नही बतलाया जा सकता। भारत मे यह संप्रदाय बडा प्राचीन है। शक्ति की उपासना आज भी भारत के

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ६३।

देवी देवताओं मे उच्च तथा श्रेष्ठ स्थान रखती है। शाक्त धर्म की उत्पत्ति भी मातृदेवी सम्प्रदाय से संबंध रखती है *। अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि एक मुद्रा मे बकरे की बलि का दृश्य अंकित है। शक्ति-उपासना मे बकरे की बलि का विशेष महत्त्व है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रांत मे शक्ति-उपासना भी प्रचलित थी। मोहे जो दडो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से यह धारणा समूल नष्ट हो जाती है कि भारत में शाक्त धर्म का उदय यूनानी अथवा अन्य पाश्चात्य आक्रमणों के कारण हुआ था।

सिंधु-प्रांत मे प्राप्त तावीजों, मुद्राओं तथा मिट्टी की पट्टियों मे कई प्रकार के पशुओं का चित्रण है। विद्वानों की धारणा है कि ये पशु किसी धार्मिक भावना अथवा धार्मिक उद्देश्य से चित्रित किए गए है। सर जॉन मार्शल सिंधु-प्रांत की पशु-पूजा को तीन भागों मे विभाजित करते है :—

(१) दंती पशुओं की पूजा।

(२) कुछ दंती पशु, जिनकी उत्पत्ति तथा महत्त्व विशेष रूप से ज्ञात नहीं है।

(३) वास्तविक पशुओं की पूजा।

प्रथम वर्ग के पशु बडे कौतूहलप्रद हैं। इनमे पशुओं के वास्तविक अंग-प्रत्यग नहीं दिखलाए गए हैं। यही बात मनुष्य-

---

* इं० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० ३६-४०।

आकृतियों के विषय में भी है। किसी मे चेहरा तो बकरी की तरह, किंतु धड और पैर मनुष्य की तरह दिखलाए गए हैं। कुछ में चेहरे तो मनुष्य के से है, किंतु शरीर बैल, बकरी या हाथी के शरीर के अवयवों से बने है। एक मुद्रा मे सिर तो बाघ का है किंतु इसकी पूँछ साँप जैसी है। इसके सिर पर तीन सींग है। किंतु ये सींग भी तीन भिन्न भिन्न पशुओं के मालूम होते हैं। एक दूसरी मुद्रा मे नीलगाय, आल्प्स पर्वत के बकरे तथा एक-शृंगी पशु के सिर चित्रित किए गए है। एक मुद्रा मे विचित्र दृश्य है। इसमे एक अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध पशु आकृति, एक-शृंगी बाघ पर आक्रमण कर रही है। सुमेरु-साहित्य में वर्णित 'इनकिदू' या ईवानी भी इसी तरह का था*।

सींगों का प्रयोग भी मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे होता था। इन दोनों स्थानों मे नीलगाय के कई सींग प्राप्त हुए है। ऐसा जान पड़ता है कि सींगों को पूजने या प्रयोग करने की प्रणाली एक ही स्रोत से निकली है। नीलगाय अधिकतर इलम में पाई जाती है और यही स्थान शायद सींगों का उत्पत्तिस्थान भी रहा हो। सर जॉन मार्शल के अनुसार नीलगाये एक समय संसार के सब भागों मे प्रचलित थीं।

एक बड़े स्तनोंवाली स्त्री-आकृति के सिर पर भी सींग जैसे मालूम होते हैं। किंतु यह संदेहजनक है। मि० मैके

---

* आ० स० रि०, १६२५-२६, पृ० ६६।

तो कहते है कि इस आकृति के सिर पर शायद पक्षी बैठे है। यदि सचमुच इस आकृति के सिर पर सींग हैं, तो यह कहना होगा कि सिंधु-प्रांत मे सींगोंवाली यह प्रथम स्त्री-आकृति है।

सींगों सहित अनेक पुरुष-मृएमूर्त्तियॉ मिली हैं। एक मूर्त्ति कमर से नीचे टूटी हुई है। इसके गले मे एक गले भर ऊँचा कालर की शकल का आभूषण है। सिर पर अब एक ही सींग रह गया है। दूसरे उदाहरण मे सिर पर दो सुंदर ऊँचे सींग है। किंतु उनके ऊपरी भाग टूट गए है*। ये पुरुष-आकृतियाँ उस काल के देवता मानी जाती रही होंगी।

मोहे जो दड़ो में सींगों सहित तीन मुखार मिले हैं†। एक ताम्र पर अंकित मूर्त्ति भी सींग पहिने मिली है।

कुछ सभ्यताओं के लोगों का विश्वास था कि मनुष्य रूप मे आने से पहिले देवता पशु रूप में ही पूजे जाते थे। कालांतर मे जब पशु, पुरुष देवता का रूप धारण करने लगे, तो उनके चिह्न-स्वरूप केवल ये सींग ही रह गए। ये सींग उस समय किसी अद्भुत शक्ति के प्रतीक माने जाते थे।

दूसरे प्रकार की पशु-पूजा मे अधिकतर एकशृंगी पशु हैं। यह पशु विशद रूप में सिंधु प्रांत की मुद्राओं पर चित्रित किया गया था। यह भी संभवतः कोई दैवी पशु था, क्योंकि इसका

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २६६।

† वही, पृ० २३२।

रूप कई मुद्राओं में भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इस पशु के वास्तव मे दो सींग थे, किंतु एक सीध मे अंकन होने के कारण एक सींग दूसरे सींग के पीछे छिप गया है। यह धारणा मान्य नहीं हो सकती। सिंधु प्रांत में अनेक ऐसे भी पशु है जिनका चित्रण पार्श्विक ढंग मे होने पर भी वे दोनों सींगों सहित चित्रित किए गए है। एकश्रृंगी पशु की पीठ पर जीन या अन्य कोई ऐसी ही वस्तु पडी रहती थी। इसके गले में कभी-कभी गोल छल्लों से बना कोई आभूषण भी रहता था। कुछ पशुओं के मुँह के आगे कोई लंब आधार या स्तंभ हैं, जिनके ऊपर धूपबत्ती जलाई जाती रही होगी। ये लब आधार दो भागों मे बनते थे। ऐसा जान पड़ता है कि लंब आधार स्वय पूजा की अलग वस्तु थे। हड़प्पा में कुछ छोटी छोटी मुद्राएँ मिली हैं। इनमे केवल लंब आधार ही बने हैं। श्री वत्स की धारणा है कि लंब आधार एकश्रृंगी पशु के साथ आने के बहुत पहले से पूजे जाते थे।

इन स्तंभों की परंपरा मौर्य तथा शुंग काल तक अनवरत रूप से चलती रही*। कतिपय विद्वानों का कहना है कि अशोक-कालीन स्तंभों के बनाने की शैली फारस से आई। किंतु इस धारणा का अब कई प्रमाणों द्वारा खडन हो गया है। ये स्तंभ बौद्ध लोगों ने तो लेखों के लिये बनाए, जैन लोगों ने इनको

---

* आ० स० मे०, न० ३१ पृ० ३५।

दीपस्तंभ नाम दिया तथा वैष्णव सम्प्रदाय ने इन्हे गरुडध्वज नाम दिया*। कुछ स्तभों के ऊपर तो कल्पवृक्ष भी रखे जाते थे†। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत मे रण-स्तभ, मान-स्तंभ, कीर्त्ति-स्तंभ आदि आदि भी थे। मोहे जो दडो की मुद्राओं पर इन स्तभों के प्राप्त होने से इस बात की भी पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत के निवासियों ने बिना किसी देश की सहायता से भिन्न भिन्न कार्यों के लिये स्तभ बनाए थे।

कुछ स्तंभ आधारों पर शायद पशु भी रखे जाते थे। सर जॉन मार्शल ने सचमुच एक आधार के ऊपर रखे पिंजड़े पर एक पशु पाया था। संभवतः सिंधु-प्रांत-निवासियों को कई प्रकार के ऐसे स्तभ विदित थे किंतु अदृढ़ पदार्थ के बने होने के कारण वे नष्ट हो गए हैं। ऐसे स्तंभों के ऊपर देवी देवताओं के वाहन भी रखे जाते रहे होंगे। दो मुद्राओं के ठप्पों मे मनुष्य एक पंक्ति में दिखलाए गए हैं। इनके हाथ में एक एक स्तभ हैं।

हरिण का चित्रण कम मुद्राओं पर हुआ है, यद्यपि सुमेर और इलम की अनेक मुद्राओं पर इसका चित्रण है। कहीं

---

* रूपम—जुलाई १६२२, पृ० ६६।

† वेसनगर से प्राप्त ऐसा एक दर्शनीय कल्पवृक्ष इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता के प्रवेश कोष्ठ में प्रदर्शित है।

कहीं तो इस पशु की आकृति बिल्कुल बैल जैसी है। संभवतः यह पशु वेदों मे वर्णित 'गोमृग' का ही संकेत देता है* ।

फियांस की एक मुद्रा मे एक नाग के सम्मुख कोई मनुष्य-आकृति झुकी सी दीख पड़ती है। खेद है कि खडित अवस्था में होने के कारण इस मुद्रा में अन्य वस्तुएँ नष्ट हो गई हैं। दूसरी मुद्रा में एक आकृति तख्ती के ऊपर बैठी है। इस आकृति के दोनों ओर दो नागा पुजारी हैं। इन पुजारियों के पीछे फण उठाए एक एक नाग भी हैं। इस दृश्य से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत मे नागपूजा भी थी।

वेदों से नागपूजा के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं होता, किंतु सूत्रों के पूर्व के साहित्य मे नाग-पूजा का बराबर वर्णन मिलता है।

वास्तविक पशुओं की पूजा में भैंस, भारतीय नीलगाय, ऋषभ, बैल, हाथी, गैंडा, बाघ तथा छोटे सींगोंवाले बैलों का चित्रण है। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि प्रस्तर-ताम्र-युग में ये सब पशु पजाब तथा सिधु-प्रांत मे थे। ये पशु या तो मुद्राओं या ताम्रपट्टियों पर अंकित हैं। कुछ खिलौने प्राकार-मूलों पर भी स्थित थे। ये संभवतः किसी संध्या या पूजा के कमरे मे स्थापित किए जाते रहे होंगे। इन सब पशुओं का धार्मिक महत्त्व था।

सबसे प्रचलित पशु कूबड़ तथा बिना कूबड़ के बैल थे। इनका चित्रण अनेक मुद्राओं पर दीख पडता है। सिधु-प्रांत

* आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ५२।

मे बैल को सर्वत्र बडी सावधानी तथा कुशलता से बनाया गया है। इससे भी इसका असाधारण महत्त्व ज्ञात होता है। सभवत: यह पशु सिंधु-प्रात में शिवजी का वाहन माना जाता था।

मोहें जो दडो मे ताम्र का बना एक सुंदर किंतु विचित्र कूबडदार बैल मिला है। इसका मुँह नीचे की ओर है। एक कान तथा सींग किसी कपडे से बँधा है। यह ताम्र के एक समूचे टुकडे से बनाया गया है। पशु एक गोल छल्ले के आकार पर स्थित है। कदाचित् इस छल्ले का भी कोई विशेष धार्मिक महत्त्व रहा हो? अनेक उदाहरणों मे बैलों के गलों मे मालाएँ पडी हैं।

छोटे सींगोंवाले बैलों का चित्रण या तो मुद्राओ पर हुआ है, या वे मिट्टी के खिलौनों के रूप मे है। इनमे इस पशु का सिर सदैव नीचे की ओर तथा एक ओर मुडा रहता है। इसके मुँह के ढंग से ज्ञात होता है कि यह पशु किसी क्रोध की मुद्रा मे है। शायद यह बैल किसी सहारकारी देवता का वाहन रहा हो*।

ऐसा ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत की किसी विशेष सस्कार-विधि मे बैलों के खिलौने काम आते थे। मानसार में भी मिट्टी के बैल का वर्णन है†। मोहें जो दडो मे एक अति सुंदर बैल का सिर प्राप्त हुआ है। इसके तले पर एक त्रिकोण

* माशल—मो० इ० सि०, पृ० ३८५।

† आचार्य्य (प्र)—मानसार, ६३/१५-१७।

छिद्र है। अनुमानतः यह सिर किसी आधार पर टिकाया जाता रहा होगा। इस बैल के सींग तथा कान टूट गए हैं। किंतु यह मालूम हो ही जाता है कि वे अलग से बनाकर फिर पशु-शरीर मे बने छिद्रों में डाले जाते थे*।

बैल का सिंधु प्रांत ही में नहीं वरन् संसार के सभी प्राचीन देशों मे धार्मिक महत्त्व था। पश्चिम एशिया में देवताओं को लोग बैलों के रूप में पूजते थे। कुछ देशों मे राजा तक सींगों को पहिनते थे। प्राचीन उर में भी बैल के कई उदाहरण मिले हैं। 'राजा की कब्र' मे प्राप्त एक बाजे का सिर बैल जैसा बना है। यह सिर अंदर से तो लकड़ी का है, किंतु इसके ऊपर सोने की एक पतली चद्दर थी†। उर में ताम्र के भी कुछ बैल मिले हैं। ऐसा कहा जाता है कि उर मे बैल द्वारपालों का काम देते थे। वहाँ के निवासियों का विश्वास था कि ये पशु अद्भुत शक्ति रखते हैं। इस कारण उनके द्वारपाल होने से कोई बुरी आत्माएँ भवनों के अंदर प्रवेश नहीं कर सकतीं। बौद्ध वेष्टनियों के प्रमुख द्वारों पर भी जो यक्ष यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं वे भी इसी भावना तथा विश्वास से बनाई जाती थीं।

भैसे का चित्रण कुछ मुद्राओं पर मिलता है। कई दृश्यों में वह मनुष्यों पर धावा करता दिखाई देता है। यह उस काल

---

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १०७।

† गैड—हिस्ट्री ऑव मोनूमेंट्स इन उर, पृ० ३५।

मे भी यम का वाहन या भैरव का दूत माना जाता रहा होगा। यह ज्ञात नहीं है, कि यह पशु शिकार के काम आता था या केवल पवित्र ही माना जाता था।

कुछ पशुओं के सम्मुख तसला सा कोई बर्त्तन रखा है। यह तसला बैलो के आगे नहीं है। हड़प्पा से प्राप्त केवल एक उदाहरण मे बैल के सम्मुख तसला है। फियांस की बनी एक मुद्रा पर बैल किसी तसले पर खाना खाता सा चित्रित है। समस्त सिंधु प्रांत की खुदाइयों मे यही एक उदाहरण है जिसमें कि यह पशु झुककर तसले में रखा खाना खा रहा है*। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि यह तसला इस बात का द्योतक है कि ये पशु पवित्र है और इसमें उनको भोग दिया जा रहा है। यह भी हो सकता है कि ये पशु क्रुद्ध प्रकृति के थे और इनको कीलों पर बाँधकर भोजन दिया जाता था। यह तसला प्रायः नीलगाय, गैडा आदि पशुओं के आगे मिला है।

खुदाई मे ऊँट की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि मोहे जो दडो का ऊँट उसी जाति का था जिस जाति के ऊँट आज दिन भी शिवालिक की पहाड़ियों की ओर मिलते है।

हाथी का चित्रण भी कई ताम्रपट्टियों तथा मुद्राओं पर मिलता है। फियांस के बने हाथी के कोई खिलौने नही मिले

* वत्स—य० ह०, पृ० ६३।

हैं। मिट्टी के कुछ उदाहरण प्राप्त हुए हैं और ताम्र में तो केवल एक ही उदाहरण है। हाथी भगवान् इंद्र का वाहन है। महात्मा बुद्ध भी अपनी माता के गर्भ में हाथी के रूप में ही अवतरित हुए थे। किंतु यह पता लगाना कठिन है कि सिंधु-प्रांत मे हाथी का क्या महत्त्व था। आजकल हाथी विशेषतया भारत के दक्षिण तथा पूर्वी भागों में पाया जाता है, किंतु जब अनुकूल वायु थी तो हाथी भारत के उत्तर तथा पश्चिमी भाग मे भी रहते रहे होंगे। नीलगाय का चित्रण भी बहुत हुआ है। इस पशु को भी पवित्र माना जाता रहा होगा। गैंडे के जितने भी उदाहरण मिले है वे बच्चों द्वारा बनाए गए हैं। यह पशु भी विशद रूप मे चित्रित किया गया है और यह भी एक समय सिंधु-प्रांत मे पाया जाता रहा होगा। कही कहीं इस पशु की खाल की झुर्रियाँ बडी सफाई के साथ दिखलाई गई हैं। घड़ियाल तथा मगर का चित्रण भी दीख पड़ता है; और हमारा अनुमान है कि ये दोनों पशु किसी नदी के देवी देवता से संबंधित थे। मकर गगा का वाहन माना जाता है।

सिंधु प्रांत में बकरे भी होते थे। एक मुद्रा के ठप्पे पर मुड़े हुए सींगों का एक बकरा चित्रित है। इस पशु के गले में तीन मालाएँ भी है। यह अपने ढंग का प्रथम उदाहरण है जिसमें बकरे के गले में मालाएँ दिखलाई गई हैं*। इससे ज्ञात

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० १०७।

होता है कि सिंधु प्रांत मे बकरा पवित्र माना जाता था। एक दूसरी मुद्रा मे चित्रित आकृति मे शरीर तो बकरे जैसा है, किंतु चेहरा मनुष्य का है। इस दृश्य का सबंध कदाचित् किसी वृक्ष-आत्मा से था*। हडप्पा मे प्राप्त एक बकरे का सिर किसी आधार पर स्थित है। इसकी दाढ़ी गहरी रेखाओं से दिखलाई गई है।

बडे पशुओं के अतिरिक्त भेड, गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, बंदर, तोता, भालू, बिल्ली तथा मोर से भी सिंधु प्रांत-निवासी परिचित थे। इनमे से प्रायः सभी पशु-पक्षी खिलौनों के रूप मे हैं। मुद्राओं पर बहुत ही कम पक्षी दीख पडते हैं। बिल्ली की कई हड्डियाँ हडप्पा में प्राप्त हुई हैं। मोहें जो दड़ो मे बिल्ली का न तो कोई चित्रण मुद्राओं पर है और न कोई खिलौना ही मिला है। हडप्पा मे भी केवल एक उदाहरण है। श्री वत्स कहते है कि यह खरगोश का चित्रण भी हो सकता है। किंतु हडप्पा-निवासी इस पशु से परिचित थे, यह वहाँ से प्राप्त हड्डियों से ज्ञात होता है†। मिश्र देश की दंतकथाओं में बिल्ली का बहुत वर्णन आया है। शायद आजकल ही की तरह सिंधु-प्रांत मे भी बिल्लियों को लोग घरों में पालते थे। बंदर से भी

---

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ६४।

† वत्स—य० इ०, पृ० ३०१।

सिंधु-प्रांत-निवासी भली भाँति परिचित थे (चि० सं० २२)। एक सुंदर उदाहरण में एक बंदर हाथ तथा पैरों से एक वृक्ष के तने को पकड़े है। अपनी कौतूहलप्रद क्रीडाओं के कारण बंदर बच्चों के लिये बहुत प्रिय रहा होगा। बौद्ध जातकों तथा महाकाव्यों मे भी बंदर का प्रमुख भाग है। हमारी धारणा है कि प्रागैतिहासिक काल में इस पशु से लोगों का वैसा ही प्रेम तथा स्नेह था जैसा कि आजकल भी चला आ रहा है।

गिलहरी के फियांस में बने तीन अति सुंदर उदाहरण हड़प्पा मे प्राप्त हुए हैं। इनके ऊपर नीले रंग की पालिश पर काली रेखाओं का चित्रण है। प्रत्येक उदाहरण में गिलहरी पंजों से दबाए हुए किसी फल को खा रही है। प्रस्तर-निर्मित एक नेवला भी हड़प्पा मे प्राप्त हुआ है।

कुत्ते तथा शूकर आज दिन अपवित्र माने जाते हैं, किंतु प्राचीन काल मे शायद उनका महत्त्व कुछ और ही था। कुत्ता तो आजकल ही की तरह अवश्य लोगों को प्रिय रहा होगा। यह शिकार खेलने तथा चौकसी करने के काम मे भी आता रहा होगा। इस पशु के कई खिलौने ताम्र, पीतल तथा मिट्टी के मिले है। कुछ उदाहरणों मे यह पशु गले मे पट्टा जैसी कोई वस्तु पहने है। शूकर का चित्रण प्राचीन मिस्र की कब्रा पर भी मिलता है। मिस्र मे ये पशु प्रायः खाद-उत्पादन के लिये खेतों में छोड़ दिए जाते थे। कभी कभी ये वहा चंद्रमा को बलि भी दिए

जाते थे*। सिंधु-प्रांत की खुदाइयों में शूकर के केवल जबड़े तथा दाँत प्राप्त हुए है। शायद पशु के सारे पंजर मे ये दो चीजे ही कुछ काम की रही हों। किंतु आश्चर्य है कि सिंधु प्रांत में इस पशु की हड्डियों से बनी कोई वस्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। बलूचिस्तान की तरह संभवतः यहाँ भी यह पशु केवल शिकार का पशु रहा हो†।

पक्षियों मे मोर का चित्रण अधिकतर मिट्टी के बर्तनों पर ही दीख पड़ता है। प्राचीन भारत मे मोर एक शकुन-सूचक पक्षी माना जाता था‡। यथा—

श्यामाश्येन शशघ्न मंजुल शिखी श्रीकर्ण चक्राह्वया।

....

फेंट कुक्कुट पूर्ण कूट चटकाश्चोक्ता दिवा संचराः।

मोर के मांस का प्रयोग उस काल मे शायद भोजन के लिये भी होता था। किसी समय समस्त मध्यदेश के लोग मोर के मांस को बहुत पसंद करते थे। सम्राट् अशोक के प्रथम शिलास्तंभ से ज्ञात होता है कि उस समय राज-पाकशाला के लिये प्रति दिवस दो मोर मारे जाते थे; किंतु स्मृति-साहित्य मे इस पक्षी के मारने का सर्वथा निषेध है।

---

* ज० रॉ० ए० सो०, १९२८, पृ० ६०७-०८।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० २१०।

‡ बृहत्संहिता, ८८। १।

बतख के भी अनेक खिलौने सिंधु-प्रांत में मिले है। इनके पंख प्रायः खुले हुए है। ये पक्षी किसी आधार पर बैठे है। सुमेर मे तो यह पक्षी मातृदेवी निनखरसग से संबधित था। संभव है सिंधु-प्रांत की मातृदेवी से भी इस पक्षी का कोई संबंध रहा हो* ।

खड़िया पत्थर के बने एक उलूक का खिलौना हड़प्पा में प्राप्त हुआ है। इसकी आँखों तथा कानों के स्थान मे कोई खचित पदार्थ जड़े जाते थे। इसके पेटे मे दो छिद्र है। शायद इस पक्षी के पैर अलग से जोड़े जाते थे। साँप का भी फियांस का बना एक उत्तम उदाहरण मिला है। इसकी रूप-रेखा बड़ी भव्य है† ।

चारों ओर से कोरे गए खड़िया पत्थर का एक दर्शनीय पंखोंवाला पक्षी बनाया गया है। इस पक्षी के पंख और पैर अलग से जोड़े गए थे। पंखों के नीचे एक छिद्र है, जिसमे रस्सी डालकर पक्षी किसी आधार पर बँधा रहा करता होगा। इसके पंखों पर हरे और शरीर पर पीले रंग की पालिश थी‡ ।

कुछ पशु और चिह्न मुद्राओं या ताम्रपट्टियों पर है। एक मुद्रा मे बाईं ओर सिर करके एक गरुड़ उड़ती दशा मे दिख-

---

* ऐंटिक्विटी—दिसबर १९३३, पृ० ४६७ ।

† वत्स—य० ह०, पृ० ३०३ ।

‡ मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ३०१ ।

लाया गया है। दूसरी ओर केवल एक साधारण + बना है। पक्षी की पूँछ तथा पंख गहरी खुदी रेखाओं से दिखलाए गए है। पंखों के ऊपर दोनों ओर दो साँप है। श्री वत्स के अनुसार यह प्रागैतिहासिक युग के भगवान् विष्णु का वाहन गरुड है। यह पक्षी प्राय अपनी चोंच मे साँपों को लपेटे हुए उडा करता है*। एक दूसरी विचित्र मुद्रा में एक किनारे पर तो घडियाल का चित्रण है किंतु दूसरे कोने का पशु ठीक ठीक नहीं पहचाना जा सका है। देखने मे यह मेढक सा मालूम होता है। यदि यह पशु वास्तव मे मेंढक है तो कहना होगा कि समस्त सिंधु-प्रांत मे यह अपने ढग का प्रथम उदाहरण है जिसमे मेढक का चित्रण है।

इस विशद पशु-चित्रण से ज्ञात होता है कि सिंधु-प्रांत-निवासियों का पशु-पक्षी-विषयक ज्ञान बहुत बढा चढ़ा था। मुद्राओं पर अधिकतर वे ही पशु चित्रित किए गए हैं जो गतिवान् और शक्तिशाली हैं। इन पशुओं मे सभी धार्मिक महत्त्व-वाले नहीं थे। कुछ पशु तो पूजे जाते, कुछ पवित्र माने जाते और कुछ केवल शौक के लिये पाले जाते थे। दंती पशुओं के चित्र मे शायद भिन्न भिन्न वाहनोंवाले देवताओं को एक करने का प्रयत्न किया गया था।

इन पशुओं के बीच कहीं भी गाय और घोडे का चित्रण नहीं है। वैसे तो एक खिलौने से ज्ञात होता है कि वह घोड़ा

---

* वत्स—ए० इ०, पृ० ३२४।

है*। इस खिलौने में पशु के कान टूट गए है। किंतु इसको घोड़ा मानने में शंका होती है ; क्योंकि घोडे का एक भी और खिलौना नही मिला है। गाय वैदिक कालीन आर्यों की एक प्रकार की सपत्ति थी। इसी प्रकार घोडा भी संस्कारों और हवनों मे विशेष स्थान रखता था। अश्वमेध यज्ञ तो बिना घोड़े के हो ही नही सकता था। फिर शेर का चित्रण भी किसी मुद्रा पर नहीं है। इलम तथा सुमेर की कई वस्तुओं पर शेर का चित्रण है। मोहे जो दड़ो तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं मे समानता है और इस कारण मोहे जो दड़ो मे शेर का न होना आश्चर्य की बात है।

मोहे जो दडो तथा हड़प्पा की अनेक मुद्राओं पर बाघ का चित्रण है। हडप्पा की एक मुद्रा पर बाघ के मुँह के नीचे एक तसला सा रखा है। दूसरे उदाहरण में बाघ एक शिरीष के वृक्ष के नीचे है। यह पशु बडी लापरवाही के साथ बनाया हुआ है। विद्वानों का मत है कि हिंसक पशु होने के कारण कलाकार इस पशु का अच्छी तरह अध्ययन नहीं कर सके थे। कहा जाता है कि सिंधु-प्रात के कलाकार पहिले पशु-पक्षियों का अध्ययन कर लेते थे और तब मुद्राओं या पट्टियों पर उनका चित्रण करते थे।

---

* आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७४।

क्या सिंधु-प्रांत मे पशुबलि की प्रथा थी ? एक दो उदाहरणों से तो ऐसा प्रमाणित होता है। पीतल का बना एक सुंदर बकरा है, जो एक बर्तन के अंदर सुरक्षित अवस्था में पाया गया था*। इस बकरे का गला एक खूंटे से बँधा है। 'शाक्त धर्म मे पशु-बलि आवश्यक है और यदि सिंधु-प्रांत में शाक्त धर्म का अस्तित्व था तो वहाँ पशुओं, विशेष कर बकरे की बलि अवश्य दी जाती रही होगी।

एक मुद्रा में किसी वृक्ष की झुकी टहनी के नीचे कोई देवी है। स्त्री के सम्मुख हाथ जोडे एक मनुष्य घुटनों के बल झुका हुआ है। इसके पीछे एक बडे आकार का बकरा है। यह बकरा या तो बलि दिया जा रहा है, या इसका देवी से परिचय कराया जा रहा है†। जहाँ तक सभव है, यह बलि का पशु नहीं है।

रा० ब० दयाराम साहनी ने हडप्पा में पशुओं की हड्डियों का एक बडा ढेर प्राप्त किया था। इनमे भेड, बैल, घोड़े आदि पशुओं की हड्डियाँ थीं। यह सभव है कि इस स्थान पर सामूहिक रूप से पशु-बलि दी गई रही हो‡।

---

* आ० स० रि०, १९३०, पृ० ६२।

† वत्स—य० ह०, पृ० १९५।

‡ आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ७९।

हडप्पा के शवागारों में एक पंजर के साथ एक भेड या बकरी का पंजर पडा था। यह पशु शायद बलि किया गया था। इसके शरीर के भी कई टुकड़े कर दिए गए थे* ।

प्राचीन काल के लोगों का विश्वास था कि मृतक को बकरी ही परलोक का रास्ता बतला सकती है। बकरी सरलता के साथ पहाड़ तथा जगल मे स्वयं अच्छी तरह से रास्ता ढूँढ सकती थी।

यह कहना कठिन है कि मोहे जो दड़ो में नर-बलि की प्रथा थी या नहीं। एक मुद्रा (जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके है) से तो ज्ञात होता है कि एक स्त्री किसी देवी को बलि दी जा रही है; किंतु यह केवल अनुमान ही है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधु-प्रांत में नर-बलि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये दी जाती थी।

हड़प्पा मे कुछ ऐसे पजर प्राप्त हुए थे जिनमे सिर कटे जान पडते हैं। इनमें कुछ तो जान-बूझकर ढेर में रखे गए थे। इन मनुष्यों की मृत्यु कैसे हुई, यह बतलाना कठिन है। किंतु जहाँ तक संभव है, ये मनुष्य क्रूर तथा बर्बर जातियों द्वारा मारे गए थे। इनसे नर-बलि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २२१ ।

ऋग्वेद मे ४ यज्ञों—(१) राजसूय, (२) अश्वमेध, (३) पुरुषमेध तथा (४) सार्वमेध—का वर्णन है। इनमे से पुरुषमेध यज्ञ कभी किया गया था या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। ऋग्वेद के केवल एक मंत्र से नरबलि पर कुछ प्रकाश पडता है*। कहा जाता है कि एक बार महाराज हरिश्चंद्र रोगग्रस्त हुए। आचार्य ने उन्हे बतलाया कि वरुण को अपने पुत्र की बलि देकर आप रोग से उन्मुक्त हो सकते है। यह समाचार सुनकर राजा का पुत्र रोहित वन मे चला गया और शुनःशेफ को वहाँ से नरबलि के लिये लाया। यज्ञ-मडप मे जब अजीगर्त स्वयं शुनःशेफ को मारने के लिये उठा, तो अतिम समय देखकर शुनःशेफ ने बडी करुणाजनक वाणी मे भगवान् से रक्षा के लिये प्रार्थना की —

कस्य नून कतमस्या मृताना मनामेह चारुदेवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातार च ॥

किंतु भगवान् के सच्चे भक्त कभी ऐसी आर्तवाणी अपने मुँह से नहीं निकालते। इसलिये नरबलि के इस उदाहरण पर भी सदेह होता है। ईगेलिंग महोदय का कहना ठीक था कि पुरुषमेध केवल एक संस्कार-विधि के वर्णन को पूर्ण करने के हेतु रखा गया था। कार्य रूप मे यह कभी परिणत नहीं किया गया था†।

---

* ऋग्वेद—१, २४, १।

† सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ४४, भूमिका ४१।

नरबलि के बहुत ही कम उदाहरण बौद्ध जातक तथा ऐतिहासिक युग* के साहित्य में पाए जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि नरबलि की प्रथा किसी युग मे बर्बर जाति के लोगों के ही बीच प्रचलित रही होगी।

अनेक मुद्राओं तथा मिट्टी के बर्तनों पर वृक्ष या पत्तियों का चित्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत-निवासी वृक्ष-पूजा मे भी विश्वास रखते थे। श्री दीक्षित को मिट्टी की एक ऐसी पट्टी मिली थी जिसमे वृक्षपूजा का स्पष्ट चित्रण है[†]। इस पट्टी में एक ओर सिरे पर छः मनुष्य-आकृतियाँ खड़ी है। इनके नीचे बकरी द्वारा एक गाड़ी खींची जा रही है। दाईं ओर दो फाँकों में विभाजित एक वृक्ष है जिसके मध्य में कोई आकृति है। अनुमानतः यह आकृति वृक्ष की देवी है। ऊपर जो छः आकृतियाँ है वे संभवतः इस देवी के उपासक हैं।

एक दूसरी मुद्रा में वृक्ष की आत्मा का चित्रण है। वृक्ष, मुद्रा के दाएँ कोने पर, केवल दो टहनियों से दिखलाया

---

* गौड़वहो के अमर लेखक वाक्पति का कहना है कि यशोवर्म्मन् (दक्षिण-पूर्वी भागों में विजय-प्राप्ति के लिये जाते हुए, मिर्जापुर के निकट स्थित) विंध्यवासिनी देवी के मंदिर में, पूजा करने के हेतु टिके थे और इस मदिर मे विंध्यवासिनी देवी को नर-बलि दी जाती थी (देखिए, त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑव कन्नौज, पृ० १९७)।

† आ० स० रि०, १९२४-२५, पृ० ६५।

गया है। ये टहनियाँ एक वृत्त के अंदर से उत्पन्न हो रही हैं। इन टहनियों के मध्य मे त्रिशूल सदृश सींग धारण किए तथा बाजूबंद पहिने एक नग्न आकृति है। इसके सम्मुख फिर बाजूबद पहिने तथा लंबे बाल धारण किए एक दूसरी त्रिश्रृंग आकृति है। आकृति के सींगों के बीच मे पंख से मालूम देते है। सर जॉन मार्शल इसे दया का याचक कहते है। इस झुकी आकृति के पीछे एक पशु है जिसका मुंह तो मनुष्य जैसा है किंतु शरीर बैल तथा बकरे के समान है। मुद्रा के निम्न भाग में सात अन्य आकृतियाँ भी है। ये आकृतियाँ बालों को पीछे की ओर फेंके तथा घुटनों तक वस्त्र पहिने हैं। सर जॉन मार्शल की धारणा है कि इस मुद्रा की टहनियाँ पीपल के वृक्ष का संकेत करती हैं और उनके मध्य की आकृति वृक्ष की आत्मा है। निम्नभाग की सात आकृतियाँ देवी के दूत हैं*।

भारत मे चिरकाल से वृक्षों मे देवी-देवताओं की आत्माओं के अस्तित्व का विश्वास रहा है। ऐतिहासिक युग मे भारुत तथा साची की कला में, स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से वृक्षों के साथ दिखलाई गई है। इन वृक्षों के साथ जो स्त्रियाँ दिखलाई गई है वे अपन उमडते सौंदर्य मे हैं। वे प्रायः नग्न है, केवल कमर मे एक मेखला पडी हुई हैं†। प्राचीन काल मे स्त्रियाँ देवियों

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ६३-६४।

† कुमारस्वामी—यक्शाज, पृ० ३२।

के रूप मे थीं, किंतु साँची तथा भारुत की कला में स्त्रियों का स्थान उच्च नहीं था। वे इस कला में यक्ष-यक्षिणियों के रूप मे दिखलाई गई हैं। इसका कारण शायद यह था कि बौद्ध धर्म का प्रचार अधिकतर ग्राम-समाज में था और ग्रामीण लोग यक्ष-यक्षिणियों के महत्त्व को भली भाँति जानते थे*।

कुछ मुद्राओं में ऐसे दृश्य हैं जिनमें वृक्ष वेष्टनियों से निकल रहे है। हड़प्पा में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं†। यहाँ से प्राप्त एक मुद्रा मे शिरीष का वृक्ष एक वेष्टनी से घिरा हुआ है। दूसरे उदाहरण मे वेष्टनी के अदर एक वृक्ष है। यह वृक्ष एक छोटे चबूतरे पर खड़ा है। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों मे भी अनेक वृक्ष वेष्टनो के अदर दिखलाए गए हैं‡।

वेष्टनियों के अदर पवित्र वस्तुओं को रखने की प्रथा बाद को भी भारत मे चलती रही। पाली-साहित्य में वेष्टनी को पाकार (प्राकार) कहा गया है। इस प्राकार के अदर कुछ वस्तुएँ, वृक्ष, मंदिर, किले या नगर रहते थे। इनमे से

---

* मजूमदार—ए गाईड टू दि स्कलपचर्स इन दि इंडियन म्यूजियम, जिल्द १, पृ० २४।

† वत्स—य० ह०, पृ० १३७।

‡ ऐलान—कैटलाग ऑव क्वायन्स इन ऐशेंट इंडिया, भू० पृ० ३१।

कुछ वस्तुएँ कुड्ड (दीवार) तथा पव्वत (पहाड़ियों) से भी घेरी जाती थीं*। बुद्ध भगवान् के पवित्र अस्थिफूलो के स्तूप, सदैव भिन्न भिन्न शिल्पयुक्त वेष्टनियो से घिरे रहते थे।

मोहे जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा मे एकशृंगी पशु के जुडवाँ सिरों के बीच से नौ पीपल की पत्तियाँ निकल रही हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि पीपल तथा एकशृंगी पशु सिधु प्रांत मे पवित्र समझे जाते थे।

मोहे जो दडो, हडप्पा तथा सिंधु-प्रांत के अनेक स्थानों मे प्राप्त मुद्राओं पर पीपल के वृक्ष या पत्तियों का चित्रण मिलता है। प्राचीन काल मे पीपल का विशेष धार्मिक महत्त्व था। अश्वत्थ वृक्ष, जो कालातर मे पीपल के नाम से प्रचलित हुआ, एक समय भारत के प्रमुख वृक्षों मे था†। गीता मे भगवान् कृष्ण कहते हैं—"मै सब वृक्षों मे पीपल हूँ"। ऋग्वेद के मंत्रों मे लिखा है कि जो लोग 'अश्वत्थ' वृक्ष पर जल चढ़ाते है उन्हे स्वर्ग-प्राप्ति होती है। पत्तो या वृक्षों की टहनियों को तोडने का भी सर्वथा निषेध है। किंतु जब कभी पूजा के लिये पत्तियाँ तोड़ी जाती है तो क्षमा के लिये कुछ मत्र उच्चारित किये जाते है। तुलसी तथा बेल के पत्तों को तोडते समय आज भी मंत्र बोले जाते हैं और पत्तियाँ तोडने के बाद वृक्ष को सिर नवाया जाता है‡।

---

* दीघनिकाय—भा० १, ७८।

† वैदिक इडेक्स—जिल्द २, पृ० ४३-४४।

‡ ज० रॉ० ए० सो० ब०, जिल्द १४, १९३०, पृ० ८५-९७।

भिन्न भिन्न देवताओं के लिये भिन्न भिन्न वृक्षों की पत्तियाँ काम आती है। शिवजी के लिये धतूरे की बेल चढ़ाई जाती है किंतु अन्य देवताओं के लिये यह कभी नहीं चढ़ाई जा सकती।

पीपल के वृक्ष के नीचे बुद्ध शाक्यमुनि ने परम ज्ञान प्राप्त किया था। पहिले तो इस वृक्ष के साथ बुद्ध-निर्वाण की घटना संबंधित थी, किंतु बाद में यह वृक्ष बुद्ध भगवान् के सारे जीवन से संबंध रखता दीख पड़ता है। भारत की कला से यह बात स्पष्ट है*।

पीपल के अतिरिक्त मि० मैके को कुछ मुद्राओं पर नीम की पत्तियों का चित्रण भी मिला है†। नीम एक कीटाणु-नाशक वस्तु है। ऐसी भी धारणा है कि नीम के वृक्ष पर शीतला देवी का निवास है। चैत्र कृष्णा अष्टमी को नीम की पत्तियाँ शीतला देवी को चढ़ाई जाती है। संभवतः ऐसा ही कुछ विश्वास सिंधु-प्रांत-निवासियों का भी था। शायद यहाँ के लोग केले के वृक्ष से भी परिचित थे। कुछ मुद्राओं पर जो चौडी तथा अधखुली पत्तियाँ दिखलाई गई है वे केले की ही पत्तियाँ है। केला आज दिन भारत में शुभ अवसरों के समय प्रयोग में लाया जाता है। कुछ वस्तुओं पर बबूल का भी चित्रण है‡।

---

* बरुआ—भारुत, जिल्द २, पृ० ४८।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ३४१।

‡ मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ३९०।

शिरीष तथा शीशम के वृक्ष भी सिंधु-प्रांत मे किसी समय उगते थे। इनके पत्तों का चित्रण या तो स्वतंत्र मुद्राओं पर था हड़प्पा से प्राप्त बर्तनों पर दीख पडता है।

भारतीय धर्म तथा परंपराओं मे वृक्ष की पत्तियाँ सदैव पूजा की वस्तु रही है। लोगों का एक विश्वास यह भी था कि वृक्षों पर देव, यक्ष, नाग, भूत-प्रेत तथा अप्सराओं का निवास है*। वृक्ष और वृक्ष-आत्माओं या देवियों का ऋग्वेद मे विशेष विवरण नहीं है। किंतु इस संबध मे यत्र-तत्र कुछ संकेत मिल ही जाते हैं। इन संकेतों से भी ज्ञात होता है कि वृक्षों मे प्रायः गंधर्व तथा अप्सराएँ निवास करती हैं†। मनुष्यों की तरह वृक्षों की शादियाँ तक की जाती हैं। १९३१ ई० मे मि० मैके को एक तावीज मिली थी, जिसमे शायद वृक्ष-पाणिग्रहण का दृश्य अंकित है। इस तावीज मे एक ओर कुछ आकृतियाँ तथा चित्र-लिपि चित्रित है। दूसरी ओर पलटने पर विचित्र दृश्य दिखाई देता है। इस तरफ बाईं ओर एक मनुष्य बैठा है और उसके नीचे एक बाघ है। बाघ की दाईं ओर दो मनुष्य पेडों को हाथों मे लिए हुए हैं। या तो यह दृश्य वृक्ष-पाणिग्रहण का सकेत करता

---

* कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑव इंडिया ऐंड इंडो-नीशियन आर्ट, पृ० ४१, ४७।

† मैकडोनल—वैदिक मिथौलॉजी, पृ० १५४।

है या ये दोनों मनुष्य वृक्ष को भूमि से उखाड रहे हैं। वृक्ष पर बैठी शायद वृक्षदेवी है*।

हिंदुओं की दृष्टि से अनेक वृक्ष अमर हैं। उनका विश्वास है कि युगों से ये वृक्ष चले आ रहे हैं और इनका कभी अंत नहीं होगा। जैसे कुछ वटवृक्ष प्रयाग, पुरी तथा जयपुर मे हैं। इनके दर्शनार्थ प्रतिवर्ष सैकडों यात्री भारत के भिन्न भिन्न भागों से जाते हैं।

अनेक ऐसी मुद्राएँ तथा ताम्रपट्टियाँ है जिनमें चित्रित दृश्यों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। यह संभव है कि ये घटनाएँ किसी देवपुरुष या देवियों के जीवन से संबंध रखती हों। आजकल ही की तरह उस काल मे भी देवगाथाएँ चलती रही होंगी। उन्हीं मे वर्णित कुछ दृश्य इन मुद्राओं या ताम्रपट्टियों मे भी आ गए हैं।

एक समचतुरस्र ताम्रपट्टी में संभवतः बेबीलोन की देव-गाथाओं मे वर्णित कोई देवपुरुष है। आकृति के सिर पर दो सींग हैं, पीछे एक पूँछ है। दाएँ हाथ मे वह एक धनुष को थामे है। ऐसा जान पड़ता है कि इस आकृति का शरीर पत्तों से ढका है। ऐसी भूषा शिकारियों के ही बीच प्रचलित होती है और संभवतः इस मुद्रा मे भी किसी शिकारी देवपुरुष का चित्रण है†।

---

* आ० स० रि०, १९३०-३१, पृ० ६६।

† आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ९५।

एक मुद्रा में, एक मनुष्य बर्छी द्वारा एक भैंसे पर धावा कर रहा है। यह बर्छी विचित्र है। इस नमूने की कोई भी बर्छी सिंधु प्रांत में प्राप्त नहीं हुई है। इस धावे का क्या अर्थ है, यह बतलाना कठिन है। यदि धावा करनेवाला पुरुष कोई देवपुरुष नहीं है, तो यह कहना होगा कि सिंधु प्रांत मे भैंसा पवित्र नहीं माना जाता था। यह भी संभव है कि भैंसा किसी विशेष संप्रदाय की पूजक वस्तु थी और इस पशु पर धावा करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी इस संप्रदाय के साथ शत्रुता थी*।

ऐसा ही अज्ञात दृश्य एक दूसरी मुद्रा पर भी है। इसमें एक ओर मचान पर बैठकर एक मनुष्य बाघ के सदृश किसी पशु पर धावा कर रहा है। वहीं पर पैरों के निम्न भाग के बल पर तिपाई पर योगासन की मुद्रा में कोई आकृति बैठी है। यह आकृति कलाई से पखुरे तक कडे पहने है। ऊपर की ओर अहाते के अंदर एक बकरा है। निम्न भाग में एक खरगोश सा पशु है। मुद्रा को उलटने से दूसरी ओर विचित्र दृश्य दीख पड़ता है। इस ओर बैल तथा त्रिशूल सहित एक स्तभ हैं। कोई देवपुरुष इस बैल की ओर मुँह किए हुए है। इस देव-पुरुष के सम्मुख एक लकड़ी का दुमजिला मकान भी है। यह सभवतः कोई मदिर था। बैल और त्रिशूल के होने से तो यही ज्ञात होता है कि यह आकृति भगवान् शिव की है†।

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० १६६।

† वत्स—य० ह०, पृ० १३०।

एक दूसरी मुद्रा मे एक बलिष्ठ शरीर का देवपुरुष या पराक्रमी पुरुष, दो बाघों के साथ द्वंद्व कर रहा है। यह आकृति नग्न है। केवल कमर के पास एक पटका है। बाघों के मुँह खुले हैं। आकृति के सिर के ऊपर या तो कोई शिरस्त्राण था, या सिर के बाल ही विचित्र ढग से बाँधे गए थे*। इसका ठीक स्वरूप भी ज्ञात नहीं हो सका है।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा के कुओं और स्नानागारों को देखकर विदित होता है कि सिंधु-प्रांत में जलपूजा का प्रचलन भी था। तुलनात्मक दृष्टि से हड़प्पा मे बहुत ही कम कुएँ प्राप्त हुए है। ये स्नानागार तो निजी स्वच्छता के लिये बने रहे होंगे। किंतु यह भी संभव है कि पाठ-पूजा, संध्या तथा ध्यान से पहिले यह आवश्यक समझा जाता था कि लोग स्नान आदि से निवृत्त हो जायँ। आजकल भी भारत मे जलपूजा प्रचलित है। गंगा, यमुना, भागीरथी, सरयू, चंद्रभागा इत्यादि नदियों के जल का विशेष धार्मिक महत्त्व है। प्रयाग की त्रिवेणी तथा हरिद्वार मे हरिजी की पैडी पर प्रतिवर्ष स्नान के मेले जुडते है। मोहें जो दड़ो मे कुषाण-कालीन स्तूप के निकट संभवतः एक मंदिर दबा पडा है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्नानागार में स्नान करने के बाद लोग इस मंदिर मे स्नान करने जाते थे, खुदाई करते समय इस स्नानागार मे दो छोटे लिंग, नीले रंग का एक बर्तन तथा कुछ ताम्र की पट्टियाँ प्राप्त हुई है।

* आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ६३-६४।

७ सिंधु प्रांत में आज दिन भी जलपूजा की कुछ परंपराएँ हैं। यहाँ 'दरियापंथी' नाम का एक संप्रदाय है*। इस संप्रदाय के लोग नदी की पूजा करते हैं। नागपूजा मे भी जल का विशिष्ट स्थान है। और हम पहिले देख ही चुके हैं कि सिंधु प्रात में नागपूजा भी होती थी।

स्वस्तिका और यूनानी क्रूश का चित्रण भी मुद्राओं तथा ...ओं मे दीख पड़ता है। स्वस्तिका तथा चक्र सूर्य भगवान् के प्रतीक भी माने जाते हैं। श्री आपटे के अनुसार स्वस्तिका शुभ भाग्य का लक्षण है†। शायद सिंधु-प्रांत मे भी किसी प्रकार की सूर्यपूजा प्रचलित रही हो। वैदिक दतकथाओं मे सूर्य भगवान् का विशेष स्थान है‡। स्वस्तिका और अग्नि का भी सबंध सूर्य ही के कारण था। वास्तव में पारसियों के एक प्राचीन अग्नि-मदिर के प्रमुख द्वार पर स्वस्तिका का चिह्न बना था। इस मंदिर के तोरण पर सूर्य और चंद्रमा का भी चित्रण था§। एक समय स्वस्तिका का प्रतीक एशिया, यूरोप तथा अमेरिका मे प्रचलित था। आजकल भी हिंदू दुकानदार इस चिह्न को अपने

---

* गजेटियर ऑव दि प्रॉविंस ऑव सिंध, पृ० १६५।

† आपटे—ए सस्कृत डिक्शनरी, पृ० ११६१।

‡ विटरनिट्ज—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जि० १, पृ० ७५।

§ ज० रॉ० ए० सो० ब०, जिल्द १४, १९३०, पृ० ६९५।

दरवाजों या बहियों के ऊपर बनाते है। सिंधु-प्रांत मे इन चिह्नों का भी ऐसा ही धार्मिक महत्त्व था।*

मोहे जो दड़ो मे पीतल की बनी नर्तकियों की मूर्तियाँ भी मिली है। एक नर्तकी को सन् १९२७ ई० मे स्व० रा० ब० दयाराम साहनी ने प्राप्त किया था (चि० सं० ३-१,२) इस नर्तकी के हाथ भाव अभिव्यक्त करने की मुद्रा मे है पैरों से मालूम होता है कि नर्तकी ताल के आधार पर नृत्य कर रही है। नर्तकी के हाथ कडों से भरे हैं और वह गले मे एक हँसली पहने है। इस नर्तकी को देवदासी माना गया है। इसके चेहरे पर सचमुच घृणा का भाव है। यह देवदासी नग्न है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत मे देवदासियाँ नहीं थीं; क्योंकि इनका उल्लेख न तो जातकों मे है और न कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे। इनका सर्वप्रथम उल्लेख महाकवि कालिदास के मेघदूत मे मिलता हैं†। काश्मीर के गायक कवि कल्हण ने भी मंदिर की नर्तकी का उल्लेख किया है‡। जोगमारा गुफा-लेख मे भी एक देवदासी का वर्णन है। इनसे

---

* स्वस्तिका के विषय मे, मि० टॉमस विल्सन का लेख जो बोर्ड ऑव रीजेंट्स ऑव दि स्मिथसोनियन इस्टीट्यूट की जून ३०,१८९ की वार्षिक रिपोर्ट मे प्रकाशित है, विशेष पठनीय है।

† मेघदूत १,३५।

‡ राजतरंगिणी, अ० ४, पृ० ४१९-२४।
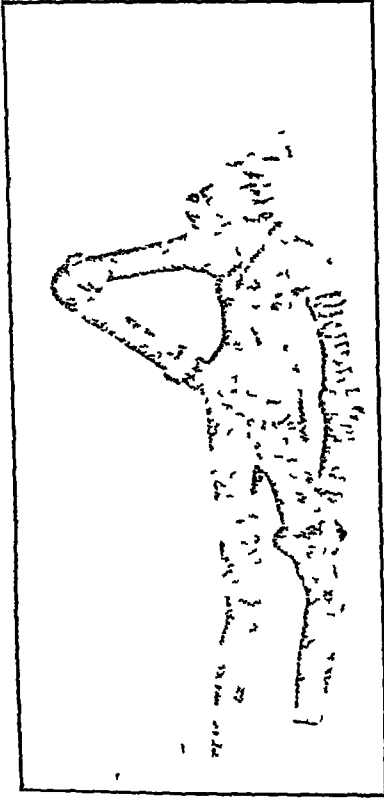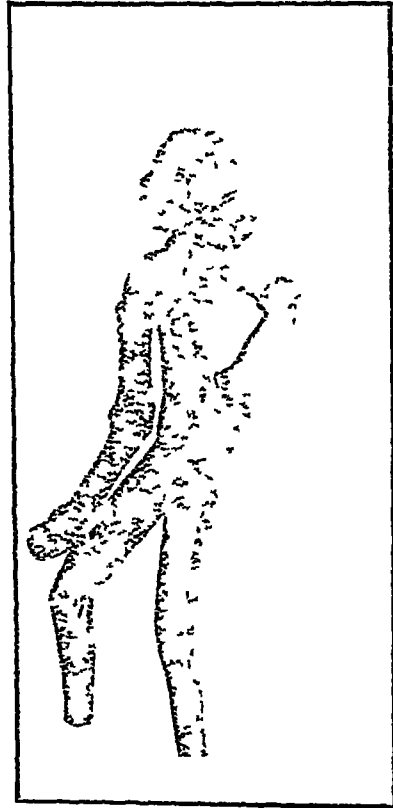
चि० स० २ (१)

चि० स० २ (२)

ज्ञात होता है कि देवदासियाँ ईसा के बाद की शताब्दियों मे अनेक मंदिरों मे वर्तमान थीं।

श्री दीक्षित जी के मतानुसार यह स्त्री नीग्रो जाति की है। उनके अनुसार इस जाति की स्त्रियाँ प्रायः नग्न ही रहा करती थीं। यह जाति सिंधु-प्रांत की जातियों से भिन्न थी*।

दूसरी मूर्ति मि० मैके को सन् १९३० ई० मे प्राप्त हुई थी। यह पहली मूर्ति से कई बातों मे भिन्न है। इन दोनों मूर्तियों मे प्रत्येक का एक एक हाथ कडों से लदा है। दोनों के पैर आवश्यकता से अधिक लंबे बनाए गए है। किंतु मि० मैके द्वारा प्राप्त मूर्ति किसी आधार पर टिकी थी; क्योंकि उसके पैरों के नीचे अभी तक कुछ ऐसे चिह्न वर्तमान है। श्री साहनी द्वारा प्राप्त मूर्ति की रूपरेखा दूसरी मूर्ति से भव्यतर है†।

मिट्टी की बनी दो मूर्तियाँ भी नर्तकों की सी जान पडती है। इनमे पैर जिस दशा मे दिखलाए गए हैं उनसे अनुमान होता है कि वे भी नृत्य कर रहे है। ऐसा नृत्य या तो किसी विशेष सम्प्रदाय के लोगों के बीच प्रचलित था, अथवा किसी संस्कार या कर्मकांड के अवसर पर होता था‡।

नृत्य के संकेत कुछ तावीजों पर भी मिलते हैं। फ़ियांस के एक तावीज पर एक मनुष्य तो ढोल बजा रहा है और कुछ मनुष्य

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० २६।

† आ० स० रि०, १९३१-३२, पृ० ६०।

‡ मैके—फ० य० मो०, पृ० २६६।

नृत्य कर रहे हैं। इस नृत्य का संबंध अवश्य किसी संस्कार कर्म या अन्य विधि से होगा *।

भारत मे नृत्य का इतिहास अति प्राचीन है। ऋग्वेद के कई मंत्रों से भी नृत्य पर प्रकाश पडता है।

यहाँ पर यह लिखना भी उचित होगा कि पीतल की बनी नर्तकियाँ शायद अथर्ववेद में वर्णित 'दासी' या संहिताओं मे वर्णित 'शूद्रा' की तरह कोई दासपुत्रियाँ हों†।

क्या सिंधु-प्रांत मे गायन-वादन का भी प्रचार था? ऐसी उच्च सभ्यता के समाज मे ललित कलाओं का होना असंभव नहीं है। खेद है कि उर की खुदाइयों की तरह यहाँ कोई भी वाद्य प्राप्त नही हुए है। फियांस की एक मुद्रा पर ढोल सदृश कोई वस्तु है। इसको एक मनुष्य, जिसके चारों ओर और लोग हैं, बजाता दीख पड़ता है। हड़प्पा से प्राप्त एक दूसरे तावीज मे बाघ के सम्मुख ढोल बजाए जाने का दृश्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे सिंधु प्रांत मे ढोल के साथ साथ तार के वाद्य भी प्रचलित थे। दो मुद्राओं पर तो मृदंग की सी कोई वस्तु है। ढोल का सुदर चित्रण एक दूसरी मुद्रा पर है। इसमे एक स्त्री ढोल को अपने बगल मे दबाए हुए है। मुद्राओं तथा तावीजों पर कुछ ऐसी वस्तुओं का चित्रण है जिन्हे

---

* मैके—इ० सि०, पृ० ९३।

† अथर्ववेद ५, २२, ६। तैत्तिरीय संहिता, ७, ४, १९, ३।

वीणा माना जा सकता है। सिंधु प्रांत में कांसताल भी बजाया जाता था*।

प्राचीन भारत मे संगीत का उच्च स्थान था। ऋग्वेद के मंत्र स्वय संगीतमय हैं। कहते हैं कि कैलाशपति भगवान् शकर ने संगीत को बढाया और नारद ने उसे संसार को बतलाया। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये संगीत बहुत बडा साधन है। ससार की कई जातियों ने इसे आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिये अपनाया है। इसलिये संगीत का प्रायः धर्म ही से सबंध होता है।

यजुर्वेद संहिता तथा ब्राह्मण समाज मे स्त्रियाँ संगीत से विशेष प्रेम करती दिखाई देती हैं। वे सदैव ऐसे व्यक्तियों से विवाह करने की इच्छा प्रकट करती हैं, जो संगीत से प्रेम रखता हो†। उस समय राजा तक संगीत में निपुण होते थे। मत्स्य-पुराण से ज्ञात होता है कि वृष्णिवशज राजा तैत्तिरी ने अपनी पुत्री को सगीत और नृत्य सिखलाया था‡।

इस बिखरी सामग्री ही से हम सिंधु-प्रांत-निवासियो के धर्म के विषय मे थोड़ा बहुत जान सकते हैं। इस प्रान के निवासियों की तावीजों या जादू-टोनों पर विशेष श्रद्धा थी। इनपर शायद प्राक्कालीन देवी-देवताओं की जीवन-सबंधी घटनाएँ

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३०।

† तैत्तिरीय सहिता ६, १, ६५।

‡ मत्स्यपुराण ४४, ६२।

चित्रित है। यहाँ के निवासियों का जल, वृक्ष, मातृदेवी, शिव, नाग, लिंग तथा शक्ति की उपासना मे विश्वास था। योग की परिपाटियों से भी वे अभिज्ञ थे। सिंधु-प्रांत मे बाहर की कई जातियाँ बसती थीं; और हम मान सकते है कि सिंधु-प्रांत-निवासियों के धर्म मे वैदेशिक तत्त्व भी रहे होंगे। कदाचित् यहाँ सांप्रदायिक पूजा भी होती रही हो।

साधारण पूजा के अतिरिक्त कुछ भक्तों ने योगबल द्वारा आध्यात्मिकता प्राप्त करने तथा अनत ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न किया होगा। सिंधु-प्रांत निवासियों ने इस प्रकार गहन चितन की ओर भी पग बढ़ाए थे।

आधुनिक हिंदू धर्म की प्रणालियों और विश्वासों के साथ सिंधु-प्रात निवासियों की धार्मिक प्रणालियों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सिधु-प्रांत निवासियों का वास्तविक धर्म हिंदू धर्म ही था और आज का हमारा धर्म भी संभवत: उसी मूल से आया है, यद्यपि समयानुसार वर्तमान हिंदू धर्म मे परिवर्तन भी हो गए है।

षष्ठ अध्याय

कला-कौशल

जीवन में कला एक आवश्यक वस्तु है। केवल भोजन ही से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के सभी युगों में कला का मनुष्य-जीवन से कुछ न कुछ संबंध अवश्य रहा है। जहाँ इसकी कमी रही है उस समाज को जंगली या बर्बर कहा गया है। इसी लिये तो भर्तृहरिजी ने भी कहा है—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः

साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।

अर्थात् संगीत, साहित्य तथा कला-रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।

हम देख चुके हैं कि सिंधु-प्रांत की सभ्यता अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थी। उस काल के लोगों ने प्रति दिवस काम आनेवाली वस्तुओं तक में अपना उच्च सौंदर्य तथा कला-प्रेम दिखलाया था। मुद्राओं, तावीजों तथा दो चार मूर्तियों के आधार पर ही हमें सिंधु-प्रांत की कला का विवेचन करना होगा।

सिंधु-प्रांत में सैकडो मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई है। इनको तीन भागों मे विभाजित किया गया है—

(१) बच्चों के खिलौने

(२) मंदिरों और देवताओं को भेंट की जानेवाली तथा पूजा की मृण्मूर्त्तियाँ

(३) खिलौने जो समाधियों मे रखे जाते थे।

सिंधु-प्रांत की मृण्मूर्त्तियाँ अधिकतर कुरूप हैं और इन्हें एकाएक कला की वस्तुएँ मानने में संकोच होता है। किंतु फिर भी उनका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

सिंधु-प्रांत में मातृदेवी की बहुत सी मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई है। इनमे आँखें कम चौडी हैं जो मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई हैं। नाक प्रायः बाद मे जोड़ी जाती थी। नाक के दोनों ओर मिट्टी दबाकर गाल बनाए जाते थे। कुछ मूर्तियों में नथुने नहीं दिखलाए गए हैं। ऐसी मूर्तियाँ प्रायः खड़ी तथा नग्न हैं। कमर से नीचे केवल एक छोटी धोती पहनी जाती थी और कभी कभी इस धोती के ऊपर एक मेखला पडी रहती थी। कुछ उदाहरणों में सिर पर पंखे की तरह विचित्र शिरोवस्त्र है। कुछ मूर्तियों के कानों की ओर प्याले जैसी वस्तुएँ हैं। इन प्यालों में घी या तेल की बत्ती जलाई जाती रही होगी; क्योंकि इन प्यालों पर आग की लपटों के चिह्न हैं*। ये प्याले भी किसी वस्तु से सिर पर बाँधे

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० २६०।
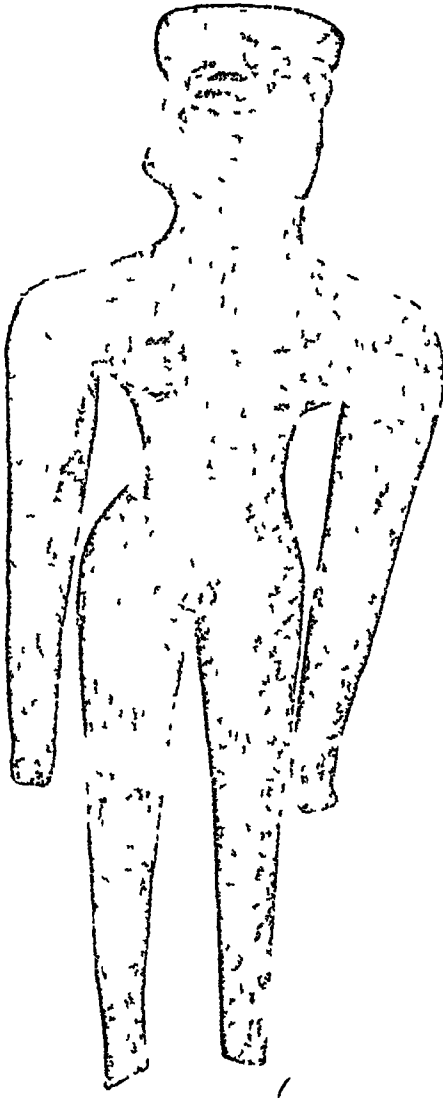
चि० स० ३
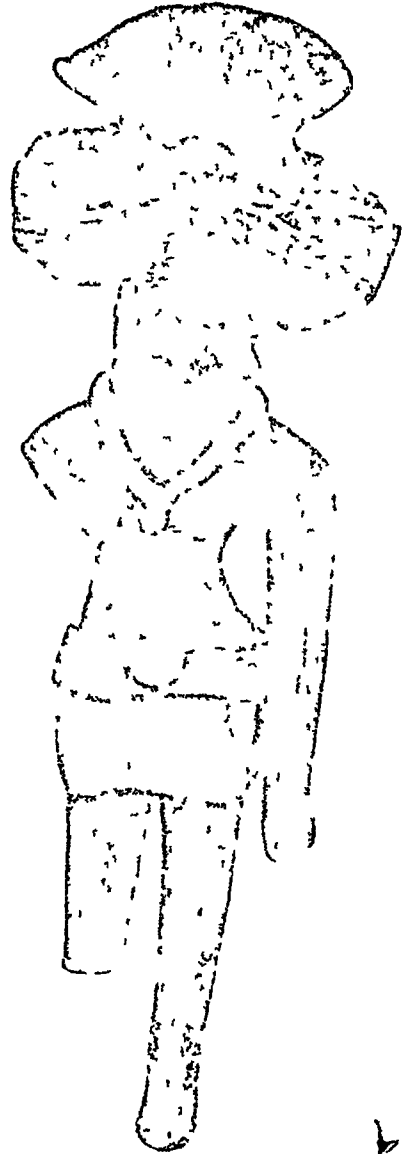
चि० सं० ४

जाते रहे होंगे। पैर प्रायः जुडे रहते थे। किसी भी उदाहरण मे अँगुलियाँ नहीं दिखलाई गई हैं। अच्छी मूर्तियो मे थोडा गड्ढा करके, फिर इसी गड्ढे पर मिट्टी की पत्ती रखी जाती थी। इस प्रकार इन मूर्तियो में होंठ तथा मुँह दिखलाए जाते थे। प्रायः सभी मूर्तियो मे स्तन बहुत बड़े बनाए गए है। ऐतिहासिक युग की मूर्तिकला मे भी स्त्रियों के विशाल स्तनों को महत्ता दी गई है और इस शैली की कतिपय विद्वानों ने तीव्र समालोचना भी की है।

पुरुष-आकृति की मृण्मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न है (चि०सं० ३)। इन मूर्तियों मे भी शिरोवस्त्र तथा आभूषण है। सिर के बाल प्रायः नारों से बाँधे जाते थे। सर जॉन मार्शल इन पुरुष-मूर्तियों को देवताओं की आकृतियाँ बतलाते है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी मृण्मूर्त्तियाँ हैं जो बच्चों द्वारा बनाई गई हैं। ये लापरवाही से बनाई गई है और इस कारण इनका शिल्प अति साधारण है।

कुछ मृण्मूर्त्तियाँ मंदिरों मे भेंट की जाती थीं। इस वर्ग की मूर्तियो मे स्त्रियाँ बच्चों को स्तन पान कराती बनाई गई हैं। कुछ स्त्रियाँ गर्भवती और कुछ सिर पर रोटियाँ ले जाती हुई चित्रित की गई है।

सिंधु-प्रांत मे इन मूर्तियों को बनाने का कोई ढाँचा प्राप्त नहीं हुआ है। केवल मुखारे ही ढाँचों में बनाए जाते थे। वास्तव मे शुंग-काल से ही मृण्मूर्त्तियों के लिये ढाँचे बनने लगे।

पशुओं तथा पक्षियों के भी अनेक खिलौने सिंधु-प्रांत में प्राप्त हुए हैं। पत्थर और घोंघे के बने पशु कम हैं। घोंघे को काटना कठिन होता है और शायद इसी कारण सिंधु-प्रात मे घोंघे के पशु नहीं बनाए जाते थे। पीतल तथा ताम्र के बने खिलौने इने गिने ही हैं। किंतु इन धातुओं मे अंकित पशुओं का सर्वथा यथार्थ चित्रण हुआ है। बैल तथा कुत्ते के कई सुंदर खिलौने प्राप्त हुए हैं। हंस के भी खिलौने बनते थे। इनपर भिन्न-भिन्न रंगों की पालिश की जाती थी। बतख का चित्रण भी भव्य है। मि० मैके इन बतखों की तुलना उर से प्राप्त बतखों से करते हैं। कछुए के भी तीन खिलौने प्राप्त हुए है। इनमे एक घोंघे का बना है।

पशुओं की आँखे बडी सुंदर बनाई गई हैं। यहाँ तक कि कौशल की दृष्टि से इन आँखों के बनाने में ही कलाकार अपनी सारी समझ और सूझ दिखला सके है* ।

प्रायः सभी खिलौने अच्छी तरह अग्नि में पकाए गए हैं। इनके ऊपर लाल तथा चिकनी पालिश की जाती थी। वस्त्र तथा आभूषण मिट्टी की पट्टियों से अलग बनाकर चिपकाए जाते थे। ये पट्टियाँ पहले खिलौनों पर लगा दी जाती थीं फिर वे औजारों से ठीक कर ली जाती थीं। आँखें बनाने के लिये पहिले साधारण छिद्र बनाए जाते थे। इन छिद्रों के

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, चित्र ३ (४, ११, १५, १७)।

अंदर पुतली दिखलाने के लिये मिट्टी की पट्टियाँ रखी जाती थीं। कुछ पशुओं की आँखों पर पत्थर की खचित वस्तु भी रखी जाती थी। मातृदेवी की अनेक मूर्तियाँ पीछे से चिपटी हैं और संभवतः वे दीवारों के सहारे बैठाई जाती थीं।

मृण्मूर्त्तियों को बनाने की विशद प्रथा संसार के सभी प्राचीन देशों में देखी जाती है। नौसौस मे सर आर्थर इवेन्स को अनेक सुंदर मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थीं। फिर साईप्रस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों मे भी ऐसे खिलौने मिले हैं। भास्कर शिल्प के उदाहरणों से सचमुच इनकी तुलना नहीं हो सकती किंतु जैसी आरामतलबी तथा कौतूहल-जनक कल्पनाओं से ये मूर्तियाँ बनी हैं वे अवश्य प्रशंसा के योग्य हैं।

भारत मे ऐसे खिलौनों का इतिहास मोहे जो दडो काल से प्रारंभ होकर आज तक चला आ रहा है*। मौर्य, शुंग तथा गुप्त काल मे अनेक सुंदर मृण्मूर्त्तियाँ बनीं। मौर्य युग के पूर्व के खिलौने दर्शनीय नहीं हैं पर मौर्य युग मे खिलौनों में कुछ बारीकी आ गई थी। पटने मे स्व० डा० जायसवाल को एक अति सुंदर, मौर्यकालीन स्त्री का धड प्राप्त हुआ था। इस धड की तुलना उन्होंने पटने की यक्षी से की है†। शुग काल, मृण्मूर्त्ति-

---

* भारत के विभिन्न प्रांतों मे लेखक ने आधुनिक मृण्मूर्त्तियों का अध्ययन कर यह धारणा स्थिर की है कि पूना तथा मथुरा में इस समय सर्वोत्तम मृण्मूर्त्तियाँ बनती हैं।

† ज० इ० सो० ओ० आ०, जुलाई १९३६, पृ० ३३।

कला का स्वर्ण युग माना जा सकता है। इस समय ढाँचों का प्रयोग होने लग गया था। इस काल की मूर्त्तियों मे प्रतिदिवस दीख पड़नेवाले अनेक दृश्य चित्रित किए गए है। ये दृश्य केवल मृण्मूर्त्तियों तक ही सीमित नहीं थे। इस युग की जितनी भी मूर्तियाँ तथा अन्य वस्तुएँ बनी है उन सब मे ऐसे दृश्य चित्रित किए गए हैं।

इन मृण्मूर्त्तियों से उस काल के जीवन तथा धार्मिक विश्वासों के विषय मे हमको बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। माताओं तथा बच्चों के विशद चित्रण से मालूम होता है कि इन युगों में गृहस्थ-जीवन बड़ा सुखी था*।

इन मृण्मूर्त्तियों तथा पत्थर की मूर्तियों मे भी समानताएँ हैं। कुषाण-काल मे, पहले के वेदिकास्तंभों मे अंकित स्त्रियों तथा शालभजिकाओं की मिट्टी की प्रतिकृतियाँ बनाई गईं। तक्ष-शिला के भीर टीले से प्राप्त एक दूसरी मूर्ति की तुलना साँची के तोरण पर अंकित एक यक्षी से की जा सकती है। यह निर्विवाद है कि शुंगकाल की कई पत्थर की मूर्तियाँ प्रायः मौर्य युग की मृण्मूर्त्तियों के आधार पर बनी हैं†। गुप्तकालीन मृण्मूर्त्तियों से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है‡।

---

* ज० यू० पी० हि० सो०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

† इं० हि० क्वा०, जिल्द ३, १९३५, पृ० १२६।

‡ इंडियन ऐंटिक्वेरी, अगस्त १९३९, पृ० १४३।
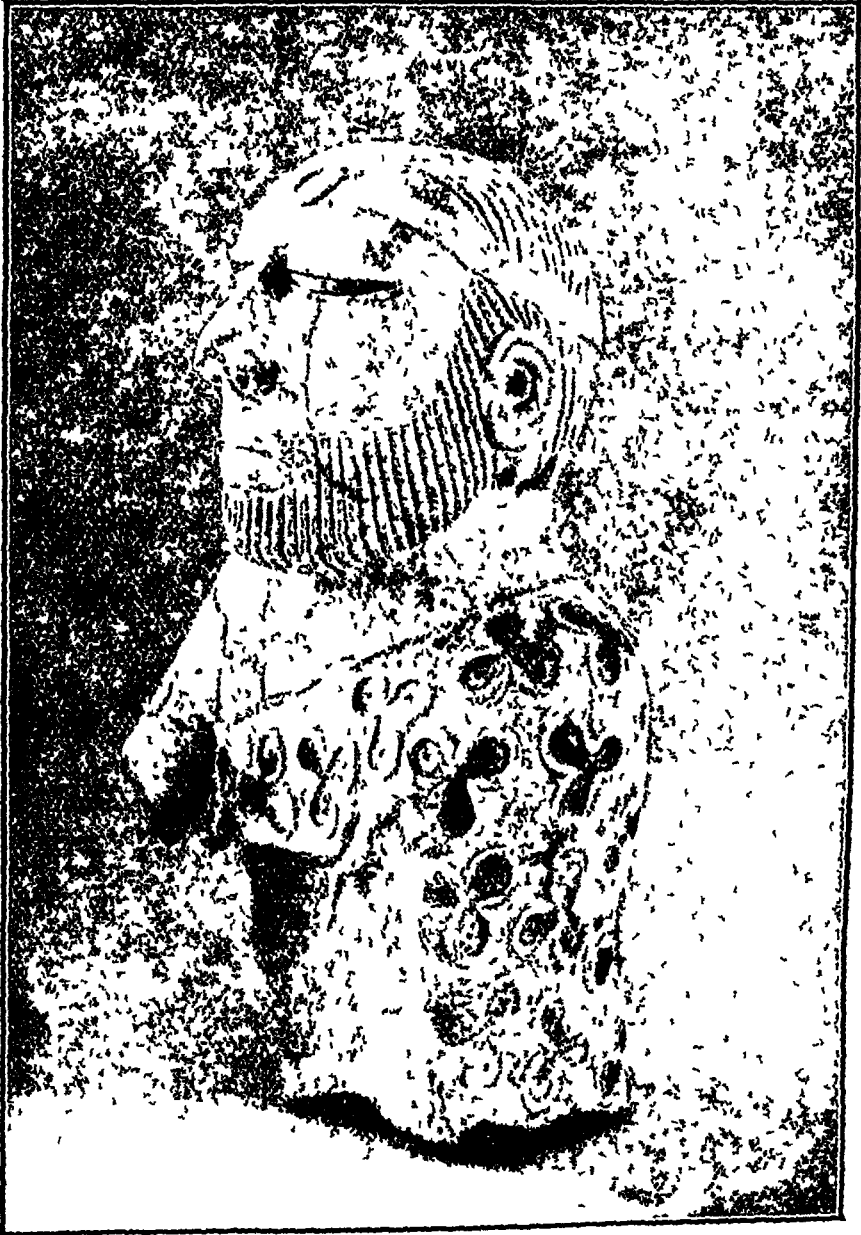
चि० स० १

ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल मे भी कुम्हारों की अलग अलग मृण्मूर्त्तियों की दूकाने थीं। स्वयं कुछ कुम्हारों के बच्चे मिट्टी के खिलौने बनाया करते रहे होंगे। जैसा पहिले कहा जा चुका है, अनेक खिलौनो का निर्माण बच्चों के हाथों से हुआ है। प्राचीन यूनान मे भी कई खिलौने बच्चों द्वारा बनाए जाते थे*।

फिर भी हमारे सम्मुख एक विडंबना उपस्थित होती है। यदि इन मृण्मूर्त्तियों मे अधिकतर बच्चों के खिलौने थे, तो यह प्रश्न होता है कि कैसे बच्चे इन कुरूप खिलौनों को पसंद करते रहे होंगे। बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सुदर वस्तुओं की ओर लपकने की होती है। हमारा अनुमान है कि उस काल मे मृच्छिल्प अपने शिशु काल मे था और इसलिये भद्दे होने पर भी उस काल के बच्चे इन खिलौनों को अपना लेते थे।

मोहे जो दड़ो मे एक पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसको श्री रामप्रसाद चदा योगी की तथा मि० मैके पुजारी की मूर्ति बतलाते हैं†। इस मूर्ति मे केवल धड ही बाकी रह गया है। यह पुरुष-आकृति दाढ़ी पहिने है, किंतु होंठ का ऊपरी भाग साफ है। दाएँ हाथ मे अतक या भुजबध सदृश कोई आभूषण है, शरीर मे एक त्रिपत्र ढग का वस्त्र है (चि०सं० १)। प्राचीन बेबीलोन के पुरोहित ऐसे ही ढग के वस्त्रों को पहिनते थे।

* मरे—ए हैंड बुक ऑव ग्रीक आर्क्योलॉजी, पृ० २१७।

† आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ६१।

इस मूर्ति की आँखें अधखुली है। वे नासिका के अग्र-भाग में स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्रों में कोई खचित पदार्थ रखा था।

आदिपुराण मे योगी की आँखों के लिये लिखा है*—

नात्युन्मिषन् न चात्यंतनिमिषन्

अर्थात् योगी की आँखें न तो पूरी बंद ही होनी चाहिए और न पूरी खुली। इस मूर्ति की आँखें अधखुली हैं और इसके आधार पर श्री० चंद्रा इसे योगी की मूर्ति बतलाते हैं†।

यहाँ पर इस मूर्ति के शरीर की त्रिपत्र भूषा के विषय मे भी कुछ कहना उचित होगा। कतिपय विद्वानों ने कहा है कि यह त्रिपत्र शैली केवल वृत्तों के समन्वय से बनी है। यह धारणा ठीक ही है। यह शैली फारस, यूनान, मेसोपोटेमिया आदि देशों को भली भाँति ज्ञात थी। हड़प्पा की कई गुरियों पर इस शैली का चित्रण हुआ है‡। श्री वत्स को यह शैली कई अन्य आभूषणों पर भी दीख पड़ी थी। उन्होंने रजत का एक ऐसा आभूषण पाया था, जिसमे सोने की टोपी वाली खड़िया मिट्टी की गुरियों की जड़ाई द्वारा यह त्रिपत्र शैली बनाई गई थी§।

---

* आदि पुराण, ११, ६२।

† मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५८।

‡ वत्स—य० इ०, पृ० ३६६।

§ आ० स० रि०, १९२८-२९, पृ० ७६।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्तियों पर सजावट के लिये रंग भी लगता था। इस योगी की मूर्ति के त्रिपत्र अलकरण में भी लाल रंग लगाया गया था।

एक अलबास्टर की बनी दूसरी पत्थर की मूर्ति भी मोहे जो दड़ो मे पाई गई है। इसमे आकृति घुटने ऊपर की ओर मोड़कर बैठी है। हाथ घुटनों पर स्थित है और चेहरा बहुत लंबा है। नाक भी आवश्यकता से लंबी बना दी गई है। आकृति के चेहरे पर एक नुकीली दाढी है। संभवत: इस आकृति की आँखों के गड्ढों पर खचित वस्तु रखी गई थी*। इसी के साथ एक दूसरे सिर का उदाहरण है। यह आकृति भी दाढ़ी पहिने है। इसमे केशों की सुंदर व्यवस्था की गई है। बाल शायद नारों द्वारा बाँधे गए थे। इस मूर्ति में नाक ऊँची तथा गाल उठे हुए से हैं†।

स्त्रियों के भी कुछ सुंदर सिर मोहे जो दड़ो मे प्राप्त हुए है। एक लगभग साढे पाँच इच ऊँचा सिर है। इसके बाल घुँघराले है। दाहिनी आँख मे, जो कि विचित्र ढग से बनाई गई है, श्वेत रग दीखता है। पीले चूने के पत्थर का एक दूसरा सिर है। इसमे पीछे की ओर एक गाँठ है। मुँह छोटा है और होंठ अधिक मोटे है। इसका माथा भी

---

* आ० स० रि०, १९२५-२६, पृ० ८५।

† वही, पृ० ८१-८२।

छोटा है। यह ज्ञात नहीं हो सका है कि यह मूर्ति स्त्री की है या पुरुष की। दाढ़ी के न होने से तो यही ज्ञात होता है कि यह मूर्ति किसी स्त्री की है। अंतिम युग में बनी एक दूसरी मूर्ति है। इसके वक्षःस्थल पर कोई मोटा रुईदार कपड़ा बँधा है। किंतु साथ ही एक शाल भी है जो कि बाँईं बाँह से होकर दाईं बाँह के नीचे पड़ा है। इस मूर्ति का गला बड़ा मजबूत है किंतु माथे और गाल की हड्डियाँ चिपटी है।

सबसे महत्वपूर्ण शिल्प की दो मूर्तियाँ हड़प्पा से प्राप्त हुई है। इनमे एक लाल तथा दूसरी नीले-काले पत्थर की बनी है। इनके अंग भंग हो गए है, किंतु धड अभी ठीक अवस्था मे है। लाल पत्थर की मूर्ति मे मासपेशियाँ बड़े ही सुंदर ढग से दिखलाई गई है (चि० सं० २३)। पेट, जैसा कि प्रायः बाद की भारतीय कला मे भी दीख पड़ता है, कुछ उठा हुआ है। कुहनियो पर गोलाकार छिद्र बने है। ये छिद्र किसी गोल बर्मे से बनाए जाते रहे होगे। सभवतः शरीर के भिन्न भिन्न अवयव अलग अलग बनाकर फिर सीमेंट से जोड़े जाते थे। नीले पत्थर मे अंकित मूर्ति तो किसी नर्तक की जान पड़ती है। इस मूर्ति का गला बहुत भारी है। सर जॉन मार्शल कहते है कि इस मूर्ति के शायद तीन सिर थे, और यह प्रागैतिहासिक युग के शिव की मूर्ति रही होगी*।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

इन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि उस काल के कलाकारों का छेनियों तथा अन्य हथियारों पर कितना अधिकार था। साथ ही हम कहेंगे कि उन्हे मनुष्य-शरीर के अंग-प्रत्यंगों का सुंदर ज्ञान था। सर जॉन मार्शल ठीक ही कहते है कि "ई० पू० चौथी शताब्दी का कोई भी यूनानी कलाकार इस मूर्ति को स्व-निर्मित कहने मे गौरव समझता।" वास्तव मे जहाँ तक शरीर-सौष्ठव तथा सुंदरता का प्रश्न है वहाँ तक तो यूनान की कला का कोई पार नही पा सकता। वहाँ की कला मे कभी आध्यात्मिक भाव नहीं आए। यूनानी लोगों ने कलाओं के द्वारा भगवान् तक पहुँचने का कभी स्वप्न तक नहीं देखा। मनुष्य-सौंदर्य के ही चारों ओर उनकी कलात्मक प्रवृत्ति घूमी।

मोहे जो दडो मे प्राप्त अन्य मूर्तियाँ शिल्प की दृष्टि से निम्न कोटि की हैं। उनके बीच मे इन हडप्पा की मूर्तियों का होना एक रहस्य सा मालूम होता है। यदि हम यह मानें कि ये मूर्तियाँ ऐतिहासिक युग की है, और अकस्मात् ही इस तह मे चली गई है तो हमे इसमे सदेह होता है। क्योंकि जिस तह मे ये मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उस तह मे ऐतिहासिक युग की कोई दूसरी वस्तु नहीं मिली है। दूसरे, जैसा कि सर जॉन मार्शल कहते हैं इस शैली की मूर्तियाँ कभी ऐतिहासिक युग में नहीं बनीं। अब तक मौर्य, शुंग, तथा गुप्त काल की सैकडों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, किंतु किसी भी मूर्ति में शरीर के अंग अलग से बनाकर नहीं जोडे गए हैं। इन युगों की पूर्ण-

मूर्तियाँ समूचे पत्थरों की बनी हैं। हड़प्पा की मूर्तियों में तो हाथ और सिर संभवत: सीमेंट आदि पदार्थों से जोड़े जाते थे। फिर हड़प्पा की मूर्तियों में कुहनी पर हाथों के लिये जो छिद्र बने हैं वे गोल हैं और शायद बर्मे द्वारा बनाए गए हैं। छिद्र करने का यह ढंग भी सर्वथा नवीन है। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक युग मे हड़प्पा की मूर्तियों के नमूने के पत्थरों की मूर्तियाँ कभी नहीं बनीं। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि हड़प्पा की मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक युग की ही हैं*। संभवत: उस युग मे हड़प्पा मे भी उसी सूक्ष्म तथा ज्ञान के कलाकार थे, जैसे ई० पू० चौथी शताब्दी में यूनान में उत्पन्न हुए थे। केवल इन दो मूर्तियों और नर्तकियों की मूर्ति के अतिरिक्त मोहे ञ्जो दड़ो तथा हड़प्पा मे कोई अन्य मूर्ति नहीं कोरी गई है। अन्य मूर्तियाँ अति साधारण हैं। किंतु उस समय एक कला-शाखा ने कला में खूब उन्नति कर ली थी, दूसरी शाखा अपने शिशु काल मे थी। कालांतर मे यही परंपरा यक्ष-मूर्ति-समूह, भारुत, साँची, अमरावती तथा मथुरा की कला मे अवतरित हुई।

प्राचीन सिंधु-प्रांत मे मूर्तियों की आँखों तथा अन्य सजावटों के लिये खचित वस्तुओं का प्रयोग भी होता था। कुछ आँखों मे तो पत्थर और कुछ मे घोंघे के टुकड़े लगे थे। यह शैली मिस्र तथा सुमेर के लोगों को भी ज्ञात थी।

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ५०८।

पीतल की नर्तकियों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। किंतु नृत्य का उस काल में क्या ध्येय था, यह ज्ञात नहीं है। पीतल की एक नर्तकी को तो देवदासी माना गया है। संभवतः उस काल के नृत्य अधिकतर धार्मिक ही होते थे। आजकल उदयशकर, कथाकाली तथा शातिनिकेतन और जयपुर के कला-सप्रदाय नृत्य का प्रचार केवल कला की दृष्टि से करते हैं।

बाजूबद, कंठहार, बडे हार, चूडियाँ, भुजबंध, अंतक, अँगूठियाँ इत्यादि वस्तुएँ बडी मनोहर हैं। इनकी निर्माण-शैली देखते ही बनती है। आभूषणों का व्यवहार प्रत्येक वर्ग के लोगों में था। श्री दीक्षित तथा साहनी महोदय को चाँदी की कल्सियों मे जो आभूषण मिले थे उनकी वर्णछटा अति सुंदर है। बडे हारों पर भिन्न भिन्न रगों की सुंदर गुरियों तथा स्वर्ण की पट्टियों का प्रयोग हुआ है। आभूषणों मे बहूमूल्य पत्थरों का कम प्रयोग हुआ है। गोमेदसन्निभ तथा लाल गोमेदा की गुरियाँ ही अधिकतर प्रयुक्त हुई हैं। संभवतः लाल गोमेदा की गुरियाँ चन्हू दडो मे बनाई जाकर उर तथा सूसा को भी भेजी जाती थीं। मोहे जो दड़ो की आवश्यकताओं की पूर्ति भी शायद चन्हू दडो ही करता था*।

मोहे जो दडो मे थोडी अलंकृत लाल गोमेदा की गुरियाँ भी प्राप्त हुई हैं। एक समय इस शैली की गुरियों का मेसोपोटेमिया,

---

* आ० स० रि०, १६३५-३६, पृ० ४२।

फारस तथा सूसा मे बड़ा प्रचार था। इन गुरियों पर काले या सफेद रंग से कारीगरी की जाती थी। ऐसी गुरियाँ मोहे जो दडो में खड़िया पत्थर से भी बनी हैं। पहले खड़िया पत्थर पर पकाए गेरुए रंग से पालिश होती थी और इसके बाद फिर चित्रण होता था*। फारस मे तो इस शैली की गुरियाँ आज तक भी बनती हैं। सिंधु-प्रांत के सेहवान नामक स्थान मे मि० मैके ने एक व्यक्ति से इस शैली की गुरियों के सबंध मे बातचीत की थी। उस व्यक्ति ने मि० मैके को बतलाया कि हैदराबाद (सिध) मे केवल एक ही मनुष्य इस कौशल को जानता था, किंतु उसकी अब मृत्यु हो गई है। समस्त सिधु-प्रांत मे अब उस व्यक्ति का पुत्र ही इस कौशल को जानता है†। सिधु-प्रांत मे लाल गोमेदा की अलंकृत गुरियाँ बाद मे भी बनी थीं किंतु वे साधारण है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये गुरियाँ तब बनी थी जब मोहे जो दडो की महत्ता फीकी पड़ चुकी थी।

कुछ गुरियों मे खचित पदार्थ भी रखा जाता था। इनसे सचमुच इन गुरियों की सुंदरता बढती रही होगी। कितनी ही गुरियो मे त्रिपत्र शैली का चित्रण है और गुरियों मे बर्मे की तरह किसी औजार से गहरान किया जाता था। बाद मे गहरे स्थानों मे रंग भरा जाता था‡।

---

* ऐ टिक्वेरीज जर्नल, जनवरी १६२६. जि० ६. पृ० ४६१।

† 'मैन', जिल्द ३३, सितम्बर १६३६, पृ० १४३-४४।

‡ वत्स—य० ह०, पृ० ५०८।

सिखारी मे बनी बहुत सी गुरियाँ सिधु-प्रात तथा हड़प्पा मे प्राप्त हुई हैं। इनमे कुछ तो वास्तविक पत्थरों की बनी है, पर कुछ अन्य पदार्थों की बनी हुई हैं। उनको गरम करने से उनका रंग श्वेत हो गया था। इनमे बहुत सी गुरियाँ विभिन्न रंगों से चित्रित थीं। यह बात विशेष महत्व की है कि सिखारी गुरियों को रगने की प्रथा मेसोपोटेमिया, मिस्र तथा क्रीट के लोग नहीं जानते।

गुरियों को रँगने के लिये प्रधानतया नीला रंग ही उपयुक्त समझा जाता था। इनको चमकाने का प्रयत्न भी बाद मे किया जाता था।

निर्धन समाज के लोग मिट्टी की बनी गुरियों को ही प्रयुक्त करते थे। ये अति साधारण हैं। इनमें किसी भी प्रकार की कारीगरी नहीं है। हाँ, कभी-कभी इनपर कुछ रंगों से पालिश अवश्य कर दी जाती थी।

सोने की कम गुरियाँ प्राप्त हुई है। ये प्रायः आभूषणों के समहों के साथ थीं। सभवतः मूल्यवान होने के कारण ये कम बनाई जाती थीं। चाँदी तो सिधु-प्रांत निवासियों को उपलब्ध थी, किंतु फिर भी चाँदी की थोडी ही गुरियाँ बनी थीं। शायद उस काल के लोग रंग-बिरगी गुरियों को ही अधिक पसंद करते थे। ताम्र तथा पीतल की गुरियों का अच्छा प्रचार था। इन धातुओं से मालाओं के बीच के लिये अंतक आदि बना करते थे।

अनेक गुरियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के पत्थरों को जोडकर बनाई जाती थीं। यह शैली संसार के किसी अन्य देश को ज्ञात नहीं थी।

कुछ गुरियों पर सोने की टोपियाँ भी पहनाई जाती थीं। संसार के और देशों मे तो इस प्रकार की स्वर्ण टोपी सहित गुरियों का बड़ा प्रचार था। मेसोपोटेमिया तथा मिस्र देश मे टोपियों सहित गुरियों की शैली बहुत प्रचलित थी।

गुरियाँ कई आकारों की होती थीं। बड़े से बडे और छोटे से छोटे आकारों में भी वे सिंधु-प्रांत मे प्राप्त हुई है। इनके लिये पत्थर भारत के भिन्न भिन्न भागों तथा भारत से बाहर के देशों से भी आते रहे होंगे। सिखारी पत्थर भारत के कई स्थानों में पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में संभवत: यह राजपूताना, मैसूर, मद्रास, जबलपुर तथा बिहार-उड़ीसा से प्राप्त किया जाता था। वैदूर्य तो निस्संदेह अफगानिस्तान के बदख्शां प्रांत से आता था। सुंदर हरा अमेजन पत्थर नीलगिरि की पहाडियो के निकट दादाबेटा या काश्मीर से प्राप्त किया जाता रहा होगा। लाल गोमेदा काश्मीर के रुदक प्रदेश, काठियावाड़ तथा राजपीपला रियासत से प्राप्त किया जाता था। लाल गोमेदा की गुरियों का प्रचार अधिक था। सभवत: सिधु-प्रांत मे बहुत सी गुरियाँ फारस से भी आती थीं* ।

* एंटिक्विट, दिसबर १९३१, पृ० ४६१ ।

घोंघे की भी कुछ गुरियाँ बनी थी। लाल अपारदर्शक गोमेद की भी गुरियाँ थीं। यह पत्थर मारवाड तथा बिजावर के कुछ स्थानों मे पाया जाता है। मोहे जो दड़ो मे यह पत्थर राजपूताना से ही आया रहा होगा।

नील लोहित स्फटिक, दक्षिण पठार तथा बिहार-उडीसा से प्राप्त किया जाता था। इसकी भी सुंदर गुरियाँ बनी थी। लाजवर्द की बहुत कम गुरियाँ बनी थी। जामुनी स्फटिक बिहार-उडीसा तथा दक्षिणी पठार के कुछ भागों मे पाया जाता है। सिंधु-प्रांत में सभवतः दक्षिणी पठार ही से यह पत्थर आता था। गोमेदसन्निभ, पलनाद के निकट गोदावरी के पुलिन से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

स्वर्ण तथा रजत की भी अनेक वस्तुएँ मोहे जो दडो और हड़प्पा मे प्राप्त हुई हैं। स्वर्ण तो भारत ही के किसी भाग से प्राप्त किया जाता रहा होगा। दक्षिण भारत (मैसूर) में स्वर्ण की अनेक खानें हैं। कोलर के स्वर्ण मे कुछ रजत-तत्व भी होता है। ऐसा ही मिश्रित स्वर्ण मोहे जो दडो का भी है। अनतपुर से भी स्वर्ण मँगाया जाता रहा होगा। रजत का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है। स्वर्ण की अपेक्षा अधिकतर बडी वस्तुएँ रजत की ही बनती थीं। रजत भागलपुर, मानभूम, मुँगेर तथा बिहार-उडीसा के सिहभूम प्रदेशों से प्राप्त किया जाता था। कुछ रजत के आभूषणों मे सीसा भी मिला हुआ है। मैसूर तथा मद्रास मे भी रजत की खाने थीं, किंतु यहाँ का रजत स्वर्ण-

मिश्रित है। यदि मोहे जो दड़ो निवासी धातुओं को अलग अलग करने की विधि जानते थे तो निश्चित है कि सिंधु-प्रांत मे रजत और स्वर्ण दक्षिण से ही यहाँ आता था*।

ताम्र बलूचिस्तान के पश्चिमी भाग, अरब और अफगानिस्तान के दक्षिण में पाया जाता है। भारत में ताम्र की खानें अजमेर, सिरोही, खेतडी तथा मेवाड मे हैं। इन्हीं स्थानों से मोहें जो दड़ो मे रजत आता रहा होगा।

मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा मे पीतल की भी कई वस्तुएँ प्राप्त हुई है। पीतल की कुछ वस्तुएँ साँचों पर ढाली जाती थीं, कुछ पिटी चद्दरों से बनती थीं और कुछ समूचे टुकड़ों से बनाई जाती थीं। सिंधु-प्रांत मे ताँबा और पीतल साथ साथ चलते थे, इसी कारण इस सभ्यता को भी नवीन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते है। मार्शल साहब की धारणा ठीक ही है कि सिंधु-प्रात निवासियों को पीतल कम मात्रा मे प्राप्त था।

सन् १९०५ ई० मे मि० वी० ए० स्मिथ ने एक लेख मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि भारतीय सभ्यता मे कभी पीतल का युग नही आया। उस समय केवल थोडी सी वस्तुएँ दक्षिण भारत के शवस्थानों मे मिली थीं। इनको भी स्मिथ साहब ने बाद के युग का बतलाया। उन्होंने यह भी कहा था कि भारत मे पीतल की जो वस्तुएँ हैं वे या तो बाहर

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ६७५।

से आई है, या अकस्मात् ही भारत मे बन गई है*। किंतु आज मोहे जो दडो तथा हडप्पा की खुदाइयों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि ५००० वर्ष पूर्व भी भारतवासी पीतल से अभिज्ञ थे और अन्य ससार की सभ्यताओं की तरह उनकी सभ्यता भी पीतल के युग के अ तर्गत आई थी।

सीसे का सिधु-प्रात मे कम प्रयोग हुआ है। यह शायद अजमेर की खानों, बिहार-उडीसा तथा मद्रास से यहाँ आता रहा होगा। पश्चिम मे अफगानिस्तान की घोखंद घाटी मे स्थित फारजल नामक स्थान मे भी सीसे की खाने थी। किंतु मार्शल-साहब के अनुसार मोहे जो दडो मे सीसा अजमेर से आया रहा होगा।

टीन सिंधु-प्रात मे पृथक् धातु के रूप मे प्राप्त नही हुआ है। यह प्रायः तीक्ष्ण धारवाले औजारों या हथियारों के लिये उपयुक्त समझा जाता था। टीन हजारीबाग प्रदेश या फारस के उत्तर-पश्चिम मे कारादाग प्रदेश से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

हाथीदाँत की वस्तुएँ कम प्राप्त हुई है। समस्त खुदाइयों मे अभी तक हाथीदाँत के दो दाँत प्राप्त हुए है। हाथी की हड्डियों से जुडाई या खचित टुकडे भी बनाए जाते थे। एक विचित्र हाथीदाँत का टुकडा है जो कि किसी बर्तन के ढकने पर रखा रहा होगा। इस टुकडे के ऊपर एक दूसरे

---

* इंडियन ऐंटिक्वेरी १९०५, पृ० २२९।

को काटते हुए वृत्त बने हैं। कभी कभी हाथीदाँत की बड़े आकारों की वस्तुएँ भी बनती थीं*। दुबके हुए भेड़ों और कुत्तों के जो खिलौने प्राप्त हुए है उनके शरीरों के मध्य में छिद्र है। इनको शायद माला के रूप में पिरोया जाता था। ये खिलौने क्रीडाशील कल्पना के सुंदर उदाहरण हैं।

सिंधु-प्रांत-निवासियों की वेश-भूषा का उल्लेख हम पहले ही कर चुके है। आभूषण बनाने में इस प्रांत के निवासियों ने विशेष कुशलता प्राप्त की थी। उनके भिन्न भिन्न रूपों में बनाने की शैली तथा रंगों का चुनाव उच्च कोटि के कलाकारों का ही कार्य हो सकता है। इन सब बातों को देखकर हमें यह कहने मे संकोच नहीं होता कि सिंधु-प्रांत-निवासियों का जीवन कलामय था।

सिंधु-प्रात की मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित आकृतियाँ सिंधु-कला के सर्वोत्तम उदाहरण है। ये मुद्राएँ या तो वर्गाकार है या समचतुरस्र। अधिकतर मुद्राएँ सिखारी की बनी है। पहले ये आरी से काटी जाती थीं और फिर चाकू से कोने आदि ठीक किए जाते थे। बाद को चमकाने के लिये इन्हे किसी पदार्थ से माँजा जाता था। अंत में इनके ऊपर पालिश की जाती थी। इनपर कई पशुओं का चित्रण है। किंतु कला के सर्वोत्तम उदाहरण कूबडदार बैल, भैंस तथा नीलगाय के चित्रण

---

* मैके—इं० सिं०, पृ० १७१-७२।

मे दीख पडते है। इनका यथार्थ रूप मे चित्रण हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने पहले पशुओं के प्रत्यंक अग का अध्ययन कर लिया था और इसके बाद ही उसने अपनी छेनी उठाई थी। इन उदाहरणों से कलाकारों की सत्यनिष्ठा तथा पर्यवेक्षण-शक्ति स्पष्ट रूप में दीख पडती है। ये कलाकार यह भी भली भाँति जानते थे कि कला का सौंदर्य से क्या संबध है और किस प्रकार सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला मे होनी चाहिए। पशुओं का ऐसा सजीव, स्वाभाविक तथा गौरव-पूर्ण चित्रण बाद की अशोकेकालीन कला मे भी हुआ है।

वास्तव मे पशुओं की इतनी सुदृढ मांस-पेशियाँ यूनान की ही कला मे सर्व प्रथम दीख पडती हैं। यह कहना ठीक ही है कि मोहें जो दडो की यह कला हमारे सम्मुख परिपक्व रूप मे आती है। इसका जन्म तो इसके सैकडों वर्ष पूर्व हो गया रहा होगा।

मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की मूर्तियों की शैली पर ही बनाई जाती थीं। बैल का एक सुंदर सिर प्राप्त हुआ है। इसमे आँख, कान तथा सींगों के लिये छिद्र बने है। आँख, कान तथा सींग अलग अलग बनाकर जोडे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिर भी, किसी चिपटी वस्तु के साथ सीमेंट द्वारा जोडा गया था। बैल के बाल कुशलता-पूर्वक दिखलाए गए है।

पशु, पक्षियों तथा मूर्तियों की सुंदरता को बढ़ाने के लिये खचित वस्तुओ का प्रयोग होता था। ये खचित वस्तुएँ कीमती पत्थर, हाथीदाँत तथा घोंघे की बनती थीं। प्रायः

जैसलमेर के लाल और पीले पत्थर और अलबास्टर से ही खचित टुकडे निकाले जाते थे। ये टुकड़े भिन्न भिन्न रूपों मे काटे जाते थे। छोटी छोटी गुरियों तक मे ये खचित टुकड़े रखे गए थे। एक दो गुरियों मे तो सुंदर पँखड़ियों के खचित टुकड़े जुडे थे।

पशु-आकृतियों के लिये ताम्र तथा पीतल का प्रयोग भी होता था। पीतल तो शायद उसी ढंग से तैयार किया जाता था जैसा बाद मे नालदा विहार के कारीगर तैयार करते थे*। किंतु यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु-प्रांत मे एक वर्ग के लोगो ने धातु-विज्ञान मे अवश्य कुशलता प्राप्त कर ली थी।

हड़प्पा मे चौदह भाड़ भी खुदाई मे निकले है। ये भिन्न भिन्न ढगों से बनाए गए है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भाडों से भिन्न भिन्न मात्रा की गर्मी पदार्थों मे पहुँचाई जाती थी। इनमें मिट्टी के बर्तन नही पकाए जाते थे। संभवतः इनमे धातु के बर्तन, फियांस की मुद्राएँ और पट्टियाँ, कार्निलियन गुरियाँ तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ डाली जाती थीं।

मोहे जो दडो, हड़प्पा और सिंधु-प्रांत के अनेक स्थानों से मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए है। ये बर्तन प्रायः कुंभ पर बनाए जाते थे। खेद है कि अभी तक कुंभकार के कोई चाक सिंधु-प्रांत की खुदाइयो मे नहीं मिले है। ६७ फीट वाले कई भट्टियों के घेरे इधर उधर दीखते है। मिट्टी निकट के ही स्थानों से ली

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० ५४।

जाती थी। इस मिट्टी मे कभी बालू, कभी चूना और कभी दोनों पदार्थ मिले रहते थे। सिंधु प्रांत के मिट्टी के बर्तन दो प्रकार के थे। एक वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल या पीले रंग की पालिश होती थी। इनपर रेखागणित के वृत्तों या कोणों की कारीगरी की गई है। सिंधु प्रांत में सर्वप्रथम ऐसे बर्तन आम्री मे, जो मोहें जो दड़ो से ८० मील दक्षिण है, प्राप्त हुए थे। इन बर्तनों पर काले या चाकलेट रंग से बेल-बूटे बनाए जाते थे। ऐसे बर्तनों पर गले नहीं बनाए गए थे।

दूसरे वर्ग के बर्तन अच्छी तरह पकाई चमकीली मिट्टी के बने है। इन बर्तनों पर लाल रंग की पालिश थी और इनके ऊपर काले रंग से बेल-बूटे, किए गए थे। बर्तनों की पालिश कभी कभी गेरुए रंग की होती थी। गेरू गच्च मध्यप्रदेश मे पाया जाता है, किंतु मि० मैके कहते हैं कि सिंधु-प्रांत मे गेरू हरमुज (फारस की खाडी) से आता था। इस वर्ग के बर्तनों पर रेखागणित के चित्र नहीं है। कितने ही ऐसे बर्तन हैं जिनके ऊपर दूसरा रंग नहीं चढ़ाया गया था। इस ढंग के अधिकतर बर्तन मोहें जो दड़ो मे ही मिले है। सिंधु-प्रांत के अन्य स्थानों, जैसे चन्हू दड़ो, गाजीशाह जो कोटिडो आदि के निम्न स्तर मे भी ऐसे बर्तन पाए गए है। अन्य स्थानो के बर्तनों पर न तो रंग की पालिश है और न कोई कारीगरी ही।

बर्तनों को पकाने से पहले कूँचियो द्वारा बूटे बना दिए जाते थे। ये बेल बूटे बड़े रमणीय तथा हृदयग्राही है। हड़प्पा के

शवस्थानों मे प्राप्त बर्तनों की चित्रकारी तो बड़ी ही सुंदर है। इन बर्तनों पर ताड़ तथा शिरीष के पत्तों का चित्रण है। अनेक बर्तनों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण भी दीख पड़ता है। चन्हू दड़ो से प्राप्त बर्तनों पर पीपल की पत्तियों का चित्रण दर्शनीय है*। मछली तथा फेफड़ों की आकृति के कुछ चित्र इन बर्तनों पर बनाए गए थे। यह चित्रण कभी कभी तो सारे बर्तन के ऊपर होता था किंतु कुछ उदाहरणों मे यह बर्तनों के गलों तक ही सीमित है। हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन के गले पर उड़ते हुए मोर दिखलाए गए है। इनके बीच बीच में तारे बने है। इन मोरों की पीठ पर अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध पशु-आकृतियाँ हैं। संभवतः ये मनुष्य के 'सूक्ष्म शरीर' को स्वर्ग ले जाते हुए चित्रित किए गए है। प्रायः मोरों के सिर पर सींग दिखलाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रांत मे मोर का मृतक-संस्कारों में अवश्य कुछ स्थान था†। चन्हू दड़ो से प्राप्त दो बर्तनों के टुकड़ों पर मोर सर्पों पर झपटते दिखलाए गए हैं।

हड़प्पा के एक दूसरे उदाहरण मे विचित्र दृश्य है। इसमें रेखाओं द्वारा बर्तन का गला दो भागों मे विभाजित किया गया है। नीचे के भाग मे तो पत्तियो और सितारों का चित्रण है और ऊपर के भाग मे एक महत्वपूर्ण दृश्य है। इस दृश्य के भी दो

---

* आ० स० मे० न० ४८, पृ० ३३।

† वत्स—य० ह०, पृ० २०७।

भाग है। एक भाग मे एक चचुधारी मनुष्य के दोनों ओर दो विचित्र पशु, संभवतः बैल हैं। इन पशुओं के सीग मुडवा तथा लबे है। चंचुधारी आकृति इन पशुओं को रस्सी से बाँधे और हाथों और पैरों से पकडे हुए है। इसके बाएँ हाथ मे धनुप और बाण है। दाईं ओर के चित्रण मे इसी पशु पर एक कुत्ता धावा कर रहा है। कुत्ते ने मुँह मे पशु की पूँछ पकड़ ली है। पशु के पीछे दो उडते मोर भी दिखलाई देते है। इन दोनों भागों के दृश्यों के मध्य मे एक बडे आकार का बकरा है। इस पशु के बडे बडे सींगों पर आठ त्रिशूल जुडे है। ये शिवजी के त्रिशूल रहे होगे*।

बर्तन के गले के दूसरे भाग के दृश्य मे त्रिशूल पशु के सींगों के बीच मे आ गए है। बाईं ओर के पशु की पूँछ भी शायद नोच ली गई थी। दाईं ओर बकरे की आकृति के मोर चित्रित किए गए है।

श्री वत्स कहते है कि इन दृश्यों मे चित्रित पशु देवी-देवताओं को बलि दिए गए थे। इसलिये वे मृतक व्यक्तियों की आत्मा को स्वर्ग तक ले जा सकते थे। इसमे चित्रित कुत्ते संभवतः यमराज के कुत्ते है। वैदिक युग के लोगों का विश्वास था कि यम की सीमा मे स्थित नदी को पार करने के लिये मृतक को उत्क्राति या वैतरणी गाय की सहायता की आवश्यकता

---

* वत्स—य० ह०, पृ० २०७।

होती है। उक्त दृश्य मे मृतक को बैल की सहायता से नदियाँ पार करवाने का दृश्य अंकित है*।

इस विशद चित्रण से ज्ञात होता है कि हड़प्पा निवासियो ने मृतक-शरीर संबंधी अनेक काल्पनिक धारणाएं बना ली थीं। साथ ही वे इन धारणाओं को लाक्षणिक रूप में भी रख सकते थे, यह उनकी विशेषता थी। सितारों के चित्रण का ध्येय संभवतः आकाश को दिखलाना था।

हड़प्पा मे प्राप्त केवल एक बर्तन के टुकड़े पर ही मनुष्य-आकृति का चित्रण हुआ है†। मोहेंजो दड़ो में किसी भी बर्तन पर मनुष्य या उसके शरीर के किसी भाग का चित्रण नहीं पाया गया है। कदाचित् किसी धार्मिक संकोच के कारण मोहेंजो दड़ो मे मनुष्य का चित्रण नहीं किया गया। दूसरी ओर मिस्र के प्राग्डाईनैस्टिक युग तथा सूसा और सुमेर के बर्तनों पर मनुष्य-आकृति का विशद चित्रण हुआ है।

कुछ बर्तनों पर आल्प्स पर्वत के जगली बकरे का भी चित्रण है। यह बकरा सिंधु प्रांत मे नहीं पाया जाता, किंतु यह स्पष्ट है कि यह पशु यहाँ के निवासियों को अच्छी तरह ज्ञात था। हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन पर बारहसिंगे का भी चित्रण है‡।

---

* वत्स— ए० ह०, पृ० २०७-०८।

† आ० स० रि०, १९२७-२८, चित्र ३५ (बी)।

‡ वही, १९२७-२८, पृ० ७६।

साँप, मोर, बतख और तोते की आकृतियों से भी सिंधु-प्रांत मे मिट्टी के बर्तन सजाए जाते थे। मछलियाँ तो सिंधु-प्रांत-निवासियो को अच्छी तरह ज्ञात थीं, किंतु इसका चित्रण केवल एक ही बर्तन पर पाया गया है। मछली के चित्रित न होने मे अवश्य कुछ रहस्य मालूम होता है, क्योंकि मोहेंजोदड़ो की अन्य समकालीन सभ्यताओं के स्थानो, जैसे नाल और सुमेर के बर्तनों में मछलियाँ प्रायः चित्रित की जाती थीं*। हरिण का चित्रण भी कुछ बर्तनों पर हुआ है। जंगली मुर्गे भी संभवतः कुछ बर्तनों पर चित्रित किए गए थे।

हड़प्पा मे एक दूसरा कौतूहलजनक दृश्य चित्रित बर्तन प्राप्त हुआ है। इसमें एक मछुआ एक डंडे पर अपने जाल को लटकाए हुए है। इस मछुए के आगे भी कोई आदमी था, जिसका एक हाथ दिखाई दे रहा है। नीचे को मुड़ती रेखाएँ संभवतः नदी की धाराओं को सूचित करती है। बीच के रिक्त स्थानों मे कई पशु तथा चिह्न अंकित किए गए हैं†।

चित्रण के लिये कूँचियाँ किस वस्तु की बनती थीं, यह भी ज्ञात नहीं है। आजकल के सिंधी कुंभकार तो गधे के बालों से कूँची बनाते हैं। उस समय भी या तो ताड़ के बारीक पत्रों या गधे के बालों से ही कूँचियाँ बनाई जाती रही होंगी।

---

* मार्शल—मो० इं० सिं०, पृ० २१६।

† वत्स — य० ह०, पृ० २८९।

जिन बर्तनों मे पानी या कोई आलात द्रव्य रखा जाता था उनके अंदर विटूमन का पलस्तर लगाया जाता था। ऐसे बर्तनों के तलों से ज्ञात हो जाता है कि कुंभकार ने इन्हे घूमते हुए चाक पर से रस्सी द्वारा काटा था। घड़ों पर कभी कभी तो बहुत पतला और कभी खूब मोटा रंग चढाया जाता था। मोटा रंग लगाने का एक लाभ यह भी था कि बर्तनों के छोटे छोटे छिद्र बंद हो जाया करते थे। भिन्न भिन्न रगों की कारीगरी वाले बर्तन मोहे जो दड़ो मे कम थे। ऐसे रंगों का एक सुंदर फूलदान या कुछ ऐसे ही अन्य प्रयोग का पात्र मोहें जो दड़ो में मिला था। ऐसे बर्तनों की चित्रकारी के लिये लाल, काला, हरा और पीला रंग प्रयुक्त होता था। प्रायः श्वेत रंग के ऊपर भी चित्रकारी की जाती थी। जहाँ श्वेत रंग के चित्रण की आवश्यकता होती थी वहाँ बर्तन के स्वाभाविक रंग के ही ऊपर चित्रण कर दिया जाता था*। मोहे जो दड़ो मे इस रंग की कारीगरी से युक्त कम बर्तन प्राप्त हुए है। लाल रंग के अतिरिक्त अन्य रंग बर्तनों के पकाने के बाद ही लगाए जाते थे। सिंधु-प्रांत के बहुत से बर्तनों पर दो ही रंग प्रयुक्त होते थे। इनमे एक रंग तो बर्तन की पालिश का ही हो जाता था और दूसरे रंग से बर्तनों के ऊपर चित्रकारी की जाती थी। भिन्न भिन्न रंगों की कारीगरी से युक्त बर्तन उस समय बनने लगे थे जब कि

---

* मैके—ई० सि०, पृ० १४७।

मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता अवनति की ओर ढल रही थी।

इसी शैली के कुछ बर्तन आम्री मे भी मिले थे। किंतु अलग अलग प्रभावों के कारण मोहे जो दड़ो तथा आम्री के बर्तनों मे असमानताएँ आ गई है। सर औरियल स्टाइन को बलूचिस्तान के कुल्ली, मेही आदि स्थानो मे भी इस शैली के बर्तन प्राप्त हुए थे*। नाल मे भी मि० हारग्रीव्ज ने इस शैली के अनेक बर्तन प्राप्त किए थे†। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे बर्तन किन्हीं विशेष क्षेत्रो मे फैले थे।

चमकाए हुए बर्तनों के टुकड़े भी खुदाई मे प्राप्त हुए थे। इस प्रकार के बर्तन बनाने के लिये विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। सभ्यता के इस युग मे न तो इलम और न सुमेर के ही निवासियो को बर्तनों पर चमक लाने का ऐसा ढग ज्ञात था। ऐसे बर्तनो के बनाने मे सदैव काले तथा नीले रग की मिश्रित मिट्टी प्रयोग मे लाई गई है।

मोहे जो दडो मे बिना किसी चित्रकारी के थोडे से ही बर्तन प्राप्त हुए है। ऐसे बर्तन प्रायः निम्न स्तर मे पाए जाते है। कभी कभी इन बर्तनों पर केवल कुछ पोलापन लिए हुए तथा गहरे लाल रग की पालिश की जाती थी। नक्काशी-युक्त बर्तन भी कम पाए गए है। अनेक बर्तनों के अदर ही नक्काशी की गई

* आ० स० मे०, न० ४३।

† वही, नं० ३५।

है। कुछ आहुति रखने की तश्तरियों पर भी नक्काशी है। यह बतलाना कठिन है कि बर्तनों के अंदर क्यों नक्काशी की जाती थी।

एक प्रकार की छोटी हंडियों पर उठे हुए दानों की कारीगरी है। संभवतः ऐसे बर्तन किसी मंदिर की निजी सपत्ति मे से थे। कुछ बहुत छोटे आकारों के बर्तन भी प्राप्त हुए हैं। इनपर शायद इत्र या कोई सौंदर्य-वर्द्धक पदार्थ रखा जाता था। ६ इंच ऊँचे एक प्रकार के खंडित बर्तन मोहें जो दड़ो मे बडी संख्या मे प्राप्त हुए हैं। ये जल पीने के पात्र थे। जल पीने के बाद ये बर्तन सभवतः तोड दिए जाते थे। भारत मे अभी तक जिस मिट्टी के बर्तन से एक बार पानी पी लिया जाता है उसे जूठा समझा जाता है। आहुति-आधारों का मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा मे बड़ा प्रचार था। इनपर भी लाल पालिश के ऊपर काले रंग से चित्रकारी की जाती थी। सुमेर तथा इलम मे भी ऐसे सैकडों आहुति-आधार थे।

हड़प्पा में कुछ ऐसे बर्तन भी प्राप्त हुए हैं जिनमे खुदाई करके कुछ चिह्न बनाए हुए है। ये चिह्न संभवतः बर्तनों के निर्माण-कर्त्ताओं के नाम सूचित करते हैं। यह भी सभव है कि इन बर्तनों पर उनके अधिकारियों के नाम खुदे हों*।

---

* वत्स—य० इ० पृ० २८६। पटने की खुदाइयों मे मौर्य-कालीन तहों पर कुछ ऐसे मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए थे जिन पर 'पर्वत

मोहे जो दड़ो मे ऐसे चिह्नों का कोई बर्तन प्राप्त नहीं हुआ है। इनके अतिरिक्त सैकड़ों प्रकार के बर्तन सिधु प्रांत मे प्राप्त हुए है। यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल मे सिधु प्रांत मे कुंभकार-कला खूब फूली फली। इसका प्रभाव इतना दृढ था कि आज दिन भी उसी परपरा के कारण सिधु प्रांत के मिट्टी के बर्तन बड़े प्रसिद्ध हैं। मि० मैके ने सिधु प्रांत के वलेरेजी नामक गाँव (जो मोहे जो दड़ो से २ मील की दूरी पर है) मे कुंभ-कला का अध्ययन किया है। इस गाँव के तीन कुटुंब अभी तक अपने अतिरिक्त निकटवर्ती और गाँवों के लिये भी बर्तन बनाते है। ये छः प्रकार के चाक तथा दो प्रकार की कूँचियों का प्रयोग करते है। एक प्रकार की कूँचियाँ तो वे ताड़ की पत्ती के मध्यभाग को पैना करके बनाते है और दूसरे प्रकार की कूँचियाँ गर्दभ की गरदन पर के बालों से बनती हैं। कुंभकार-कला सिधु प्रांत मे स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुई थी। इसमे वैदेशिक तत्त्व तथा प्रभाव आए होंगे, किंतु उन्हे मोहे जो दड़ो की कला ने बडी खूबी के साथ पचाया है। यह अवश्य है कि आजकल की सिधु प्रात की कला उतनी उच्च नहीं है जितनी ५००० वर्ष पूर्व

के ऊपर 'चद्रमा' का प्रतीक अंकित था। मुद्राशास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि यह मौर्य सम्राटो का राज-प्रतीक था। इन बर्तनो को राज्य की सम्पत्ति माना गया है।

थी। किंतु यह किसी दशा में नहीं माना जा सकता कि यह कला यूनान या अरब से यहाँ आई*।

आधुनिक काल में सिंधु प्रांत में हला नामक स्थान कुंभकला का केंद्र माना जाता है। सन् १८७१ ई० की एक अंताराष्ट्रीय प्रदर्शनी तक मे सिंधु प्रांत के बर्तनों की बड़ी प्रशंसा हुई थी।

एक समय सिंधु प्रांत के बर्तनों पर रंगीन पालिश होती थी। किंतु समय की प्रगति के साथ रंगों का प्रयोग कम होता गया। इस बीच कई प्रकार के रंगों के प्रयोग होते रहे। किंतु सबसे अधिक समय तक लाल पालिश के ऊपर काले रंग का चित्रण चलता रहा। मोहें जो दड़ो के लोग उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान देते थे। उन्होंने अच्छी पकाई मिट्टी के बर्तनों को ही सर्वश्रेष्ठ समझा। कारीगरी वाले बर्तन आम्री मे मिले थे। आम्री का काल मोहें जो दड़ो से पहले का है, इसी लिये मोहें जो दड़ो और आम्री के बर्तनों मे इतनी भिन्नता दीख पड़ती है। मोहें जो दड़ो निवासियो के लिये उस युग मे अलंकरण का कम महत्व रह गया था†। इन मिट्टी के बर्तनों से सिंधु-सभ्यता के अभ्युदय तथा अवनति का अच्छा अध्ययन हो सकता है। सिंधु-सभ्यता की अवनति के चिह्न झूकर और लोहूम जो दड़ो की ऊपरी सतह मे प्राप्त तथा झानगर के बर्तनों

---

* ज० रॉ० ए० इ०, जिल्द ६०, १६३०, पृ०११४।

† आ० स० मे०, ०४८, पृ० १५०।

पर मिलते है। इन स्थानों के बर्तन बड़ी असावधानी से बनाए गए है। झूकर और लोहूम जो दड़ो मे लाल के ऊपर काले रंग से अलंकरण होता था। किंतु शैली मे कुछ भिन्नता आ गई थी। झानगर मे काली मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए है और मोहे जो दडो की ऊपरी दो सतहों पर भी इसी शैली के बर्तन पाए गए है। अब लाल रग के ऊपर काले रग की चित्रकारी के बर्तन नहीं बनते थे। इन काली मिट्टी के बर्तनों पर कुछ कुछ नक्काशी भी की हुई है। इससे ज्ञात होता है कि कुभकारों को उचित आर्थिक सहायता नहीं मिलती थी। लोग कु भकला को कला भी नहीं मानते थे। यदि उन्होंने बर्तन बनाए तो केवल काम चलाने के लिये।

पशुओं की शक्ल के भी कुछ मिट्टी के बर्तन सिधु प्रात मे बने थे। एक पशु घड़े के रूप में बना मिला है। इसकी पीठ मे छिद्र भी है।

असख्य मिट्टी के बर्तनों के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि इस नगर मे कुंभकारो का भी एक मुहल्ला तथा वर्ग था। विद्वानो ने मोहे जो दड़ो के एक खुदे भाग को कुभकारों का मुहल्ला बतलाया है। यह सभव है, किंतु यह मुहल्ला तब वर्तमान रहा होगा जब सिधु-सभ्यता अवनति की ओर चल चुकी थी। अन्यथा एक सुंदर संस्कृति के नगर मे कु भकारों को स्थान नहीं मिल सकता था, क्योंकि उनके भट्ठो के धुएँ से नगर के स्वास्थ्य को अवश्य कुछ हानि पहुँचती।

सिंधु प्रांत के कलाकार सचमुच इस कला में पटु थे (चि० सं० ११)। जब हम देखते हैं कि आधे इंच तक ऊँचे बर्तनों के बनाने मे यहाँ के निवासी असाधारण कौशल दिखला सकते थे, तो हम उस युग के कलाकारों के हाथों की बारीकी की प्रशसा किए बिना नहीं रह सकते।

अपने यश के दिनों मे सिंधु प्रांत मे कई कलाएँ अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँची थीं। कितनी ही दिशाओं मे इन्होंने अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को स्थापित किया था। सिंधु प्रांत की लाल पालिश के ऊपर काले रंग का जो चित्रण हुआ है, ऐसी शैली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश को ज्ञात नहीं थी। यह सिधु प्रात की स्थायी शैली थी*। यह अवश्य था कि भास्कर शिल्प की कतिपय बातों की ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया। भारत मे मूर्तिकला का शिलारोपण करने का सर्वप्रथम श्रेय भी उन्हीं को दिया जायगा। श्री दीक्षित के मतानुसार योगी की मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का सर्वप्रथम उदाहरण है। कई देशों की कला की तरह यहाँ की कला भी अपनी परवर्ती कला पर प्रकाश डालती है। लबे नेत्र तथा नेत्रों का नासिका के अग्र भाग मे स्थिर होना बाद की भारतीय कला मे भी पाया जाता है†। वास्तव मे जैन तथा बौद्ध धर्म की अनेक मूर्तियाँ योग

*एशट ईजिप्ट ऐड दि ईस्ट, मार्च-जून, १६३३, पृ० १।

† कामरिश—इंडियन स्कल्पचर, पृ० ४।
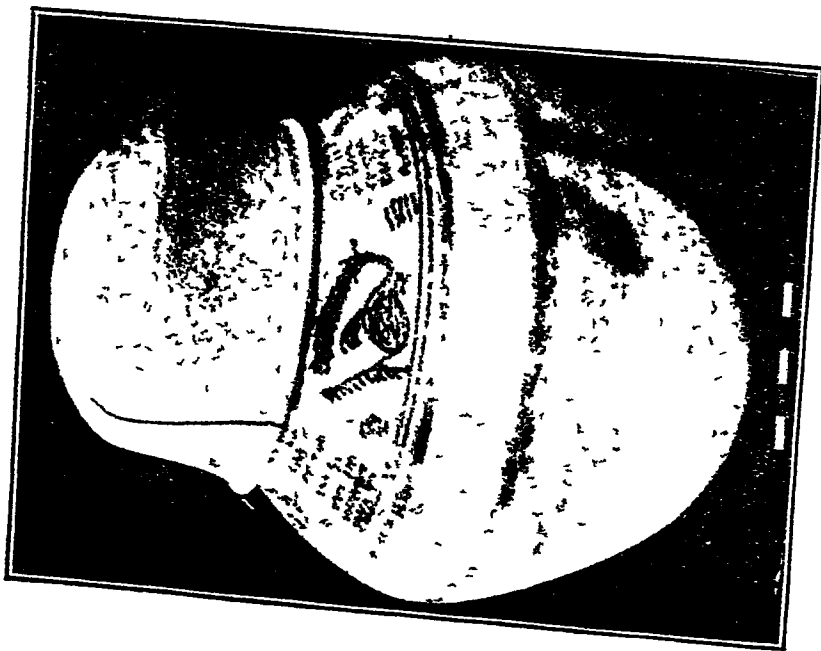
चि० स० ११
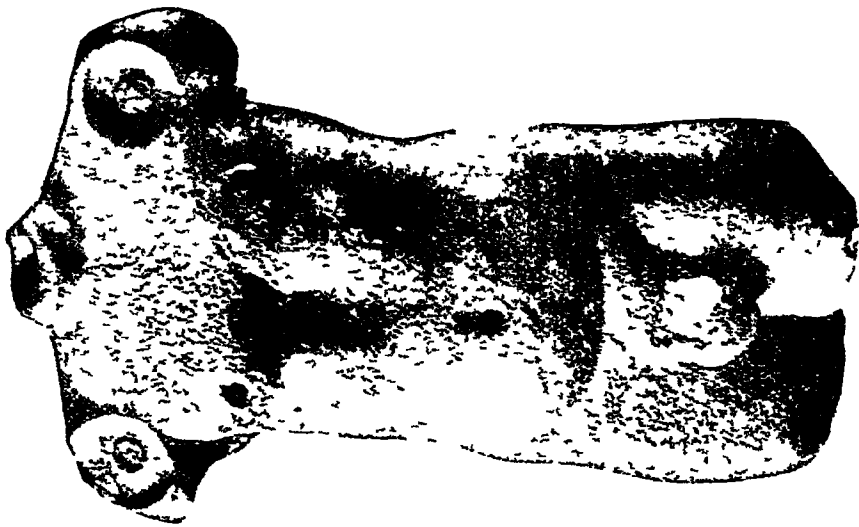
चि० स० २३

की दशाओं का परिचय देती है। श्री रामप्रसाद चदा तो कहते हैं कि प्रथम शताब्दी मे जो भगवान् बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनीं उनकी परंपरा सिंधु-सभ्यता से आई थीं। प्रथम शताब्दी मे जब योग का फिर प्रचार बढा तो योग की दशाओं मे मूर्तियाँ बनने लगीं*। मुद्राओं तथा पशुओं के चित्रण मे एक अद्भुत विशिष्टता तथा ऐश्वर्य का दिग्दर्शन है। ये पशु शांतिमय मालूम होते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि ये पशु भारुत, साँची या अमरावती के पशुओं की तरह किसी विशेष घटना में भाग नहीं लेते। किंतु पशुओं को जितना महत्व सिंधु-प्रांत की कला में मिला उतना ही उन्हे बाद के युगों की भारतीय कला मे भी मिला है।

यदि हम मान ले कि पत्थर के कुछ सिर जीवितों की प्रतिकृतियाँ थीं तो हम सिंधु प्रांत की कला को यथार्थवादी कला के अंदर रखेंगे। पशुओं का चित्रण तो निस्संदेह यथार्थवादी है। कलाकारों ने जैसे जिस पशु को देखा वैसा ही उसका चित्रण किया। कदाचित् उस काल के कलाकार ध्यान-मंत्र का साधन नहीं करते थे। आदर्शवाद के झीने आवरण को जो कि भारतीय कला की एक विशेषता है, सिंधु-प्रांत-निवासी अपनी कला में कभी नहीं ला सके। कतिपय कला-मर्मज्ञों का ठीक ही कहना है कि उच्च कला मे कलाकार के मनोवेगों, अनुभवों तथा दार्श-

---

* चदा—मेडीवल इंडियन स्कल्पचर, पृ० १०।

निक विचारों की झलक होनी चाहिए। इन बातों के प्रभाव से अंकित हमे कोई उदाहरण सिंधु प्रांत मे प्राप्त नहीं हुए है। सभव है भविष्य की खुदाइयों मे हमे कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त हो सकें।

खिलौनों, योगी की मूर्ति तथा नर्तकियों का धर्म से विशेष संबंध है। संभवतः मोहे जो दडो की कला धर्म से भी कुछ सीमा तक प्रभावित हुई थी।

यदि हम संसार के कला-इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमे ज्ञात होगा कि कला का मूल धार्मिक भावनाओं मे स्थित है। नरवंश विद्या के आधार पर भी प्रमाणित हो गया है कि प्राचीन काल की कला केवल धर्म ही से उत्पन्न हुई थी। डा० कुमार स्वामी का कथन है कि धर्म तथा कला एक ही अनुभव के दो भिन्न भिन्न नाम है। यह यथार्थता तथा समता द्वारा उत्पन्न अंतर्ज्ञान है*।

खेद है कि भास्कर शिल्प के कोई उच्च उदाहरण मोहे जो दड़ो में नहीं मिले है। केवल हडप्पा के दो धडों को ही हम उच्च शिल्प की वस्तुएँ मान सकते है। अब तक प्राप्त मूर्तियों मे कोई ऐसा उदाहरण नही है जिसकी तुलना हम मथुरा या सारनाथ के बुद्ध या गुप्त-काल की अन्य मूर्तियों के साथ कर सकें।

मोहे जो दडो मे मूर्तिपूजा का प्रचलन था, यह मुद्राओं मे अकित दृश्यों से ज्ञात होता है। फिर मोहे जो दडो युग के बाद

---

* कुमारस्वामी—डान्स ऑव शिव, पृ० ३५-३६।

मूर्तिकला कई शताब्दियों तक अंधकार में विलीन हो जाती है। केवल मौर्य युग के पूर्व आकर हमें कुछ यक्ष-मूर्तियाँ मिलती हैं। किंतु इनका शिल्प अति साधारण है। इनमें केवल एक खूबी है, और वह यह है कि ये यक्ष-मूर्तियाँ चारों ओर से कोरी गई है। यह यक्ष-समूह इस अंधकारमय युग की टिम-टिमाती कला-परंपराओं पर उचित प्रकाश डालता है।

भारत में वास्तविक मूर्तिपूजा ईसा की पहली शताब्दी में प्रारंभ हुई। इसका सर्वप्रथम कारण तो भागवत धर्म का प्रचार था। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि जो लोग श्रद्धा-पूर्वक अन्य देवताओं की पूजा करते हैं उन्हें भी वे मनोवाञ्छित फल देते हैं—

यो यो या या तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

× × ×

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥ *

गीता अ० ७, श्लोक २१-२२।

इस प्रकार भागवत धर्म की उत्पत्ति के साथ कर्मकाण्ड से ऊबी जनता देवताओं का पूजन करने लगी*। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी कार्य करने लगी। इस शाखा के प्रचारकों ने संसार को भगवान् बुद्ध की साकार उपासना के लिये आदेश दिया। इस कारण ई० पू० पहली

---

* आर्ट बुलेटिन, म्यूजियम, बोस्टन, जिल्द ६, नं० ४, पृ० १०-१२।

शताब्दी में मोहें जो दड़ो युग के बाद सर्वप्रथम पूजा की मूर्तियाँ बनीं।

मोहें जो दड़ो की मूर्तियाँ तो कुरूप है, किंतु मुद्राओं तथा पट्टियों पर अंकित पशु बड़े सुंदर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह अंतर कला मे किस प्रकार आया। हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं—

(१) मोहें जो दड़ो नगर सस्कृति तथा सभ्यता को पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। यहाँ कई प्रकार को कलाएँ रही होंगो। कलाकारों की भी इच्छा रहती होगी कि वे अपने लिये नए साधन, नई शैली तथा नए रास्ते ढूँढ़ें। इस प्रकार मोहें जो दड़ो मे कला की दो प्रमुख शाखाएँ थीं। एक शाखा के कलाकारों ने मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों पर चित्रांकन करने मे कुशलता प्राप्त की और दूसरी शाखा के कलाकारों ने धार्मिक प्रतीक तथा मिट्टी के खिलौने बनाए। किसी विशेष कारण से वे इन वस्तुओं के सौंदर्य को बढा नहीं सके।

(२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि मोहें जो दड़ो मे मुद्राओं तथा ताम्रपट्टियों का विशेष महत्व था। ये वस्तुएँ राज्य के किसी विभाग के अंतर्गत बनाई जाती रही होंगी। इस कार्य के लिये ऐसे कलाकार नियुक्त होते रहे होंगे जिन्होंने इस कला मे विशेषता प्राप्त की थी।

(३) तीसरे, मोहें जो दड़ो एक ऐसा नगर था जिसमें कई वर्गों तथा जातियों के लोग रहते थे। ऐसे नगर में संभवतः

कुछ ऐसी भी आजीविका के लोग थे जो खुदाई के कार्य मे कुशल थे। इन्हीं के द्वारा ये पट्टियाँ तथा मुद्राएँ बनी होंगी।

यह पता नहीं है कि कलाक्षेत्र मे मोहे जो दडो के लोगों की कैसी गति थी। इतना हम कह सकते है कि यहाँ के लोगो का बौद्धिक जीवन बहुत बढ़ाचढा नहीं था। उन लोगों की समझ, सूझ, चिंतन तथा मनन इतना गहरा तथा विशद न था कि वे उस उच्च दर्शन का निर्माण कर पाते जिससे हमारे वेद, पुराण, गीता, उपनिषद् तथा महाकाव्य भरे पडे हैं। बौद्ध धर्म के 'दुःखवाद' तथा गीता के 'कर्मवाद' की वे कल्पना नहीं कर सके। और जब लोग इस उच्च दर्शन को समझने योग्य हुए तभी कला मे मानवीय तत्व तथा दर्शन आया। जीवन की उस स्थूलता तथा ईश्वर की उस महत्ता को वे नही समझ सके जिसका पूर्ण दर्शन हमे रोदाँ तथा माईकेल एंजिलो की कृतियों मे मिलता है। महान कलाकार को कोरा यथार्थवादी ही नहीं होना चाहिए। उसमें कलाकारों के मनोवेगों, रहस्य-ज्ञान तथा कल्पना की हल्की उडान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त महान् कला को जीवन के सन्निकट भी होना चाहिए।

दर्शन की यह कमी हम मौर्य-युग के पूर्व की यक्ष-मूर्तियों में भी पाते हैं। परखम, पवाया, वेसनगर, पटना इत्यादि स्थानों में प्राप्त यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों में भी हम देखते है कि इनमे न तो मानवीय तत्व है और न आदर्शवाद का आवरण ही है। इन कलाकारों की सृष्टि मे मनुष्य केवल एक साधारण

वह उस नेता के रूप में नहीं आया जिसे
तीय कला में पाते है*। हमारी धारणा है
का प्राधान्य होना चाहिए, क्योंकि कला का
हुआ है और वह उसके जीवन के चारों ओर
घूमती है। केवल कल्पना की आधारशिला पर खडी कला
शून्य है—तत्वहीन है। व्यक्ति व्यक्ति मे, समाज समाज मे,
आदर्श आदर्श मे जब सघर्ष होता है तभी उच्च दर्शन और
कलाएँ भी उत्पन्न होती है। संभवतः मोहे जो दडो मे इन
सघर्षों का विशेष महत्व नहीं था।

---

* रूपम—अप्रेल, १९२४,पृ० ६९।

सप्तम अध्याय

स्थापत्य

मोहे जो दडो तथा हडप्पा में अनेक भवनों की दीवारे निकली हैं। खेद है कि कोई भी इमारत समूची नहीं बच सकी है। कई इमारतों की दीवारे इतनी भग्न हो गई है कि उनसे बनी इमारत के विषय मे कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता, फिर भी एक सरसरी दृष्टि फेरने से ज्ञात हो जाता है कि सिंधु-प्रात निवासी महान् निर्माणकर्ता थे और वे कई बातों मे अन्य समकालीन सभ्यताओं के निर्माणकर्ताओं से बढे चढ़े थे।

मोहे जो दडो की इमारतो मे अधिकतर पकाई हुई ईटें प्रयोग मे लाई गई हैं। इनकी बनावट बड़ी मनोहर है। यहाँ के कारीगरों ने मेसोपोटेमिया की तरह कभी दीवार के बाहर कुरूप ईटें नहीं लगाई। मेसोपोटेमिया मे तो अधिकतर कच्ची ईटे ही दीवारों के लिये प्रयुक्त होती थीं। मोहे जो दडो मे पकाने से पहले ईटे धूप मे सुखा दी जाती थीं। कई ईटों के ऊपर कुत्तो और कौओं के पंजों के चिह्न अकित हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये ईंटे गीली अवस्था मे धूप मे सुखाने के लिये रखी

गई थीं, उस समय ये पशु-पक्षी इनके ऊपर चले होंगे। ये सभी ईंटे पुलिनमय मिट्टी से बनाई जाती थी। सबसे बड़ी ईंट का आकार २०.२५ × १०.५ × ३.५ इंच और सबसे छोटी का ९.५ × ४.३५ × २ इच है। किंतु अधिकतर ईटो का आकार ११ × ५$\frac{१}{२}$ × २$\frac{३}{४}$ या ५$\frac{१}{२}$ × २$\frac{१}{४}$ × २$\frac{३}{४}$ इंच का होता था। ये ईंटें किसी औजार या आरी से ठीक आकारो मे काटी जाती थी। भारत मे किसी भी युग के कारीगरों ने इस सुलभ नाप की ईटें नही बनाईं। सम्राट् अशोक के काल मे ईंटों का आकार सिंधु-प्रांत की ईंटों से दुगुना हो गया था। संसार के अन्य किसी प्राचीन देश मे इतनी अधिक मात्रा मे ईंटें नही बनाई गईं। इसका एक कारण तो यह था कि अन्य देशों को पत्थर सरलता से प्राप्त हो जाया करता था, इसलिये उन्होंने ईंटों पर प्रयोग व्यर्थ समझा। सिंधु-प्रांत-निवासियों की वणिक् प्रवृत्ति थी और इस कारण उन्होंने अपने नगर के चारों ओर की मनों बालू का समुचित उपयोग किया।

मोहे जो दड़ो की ईंटों पर कोई कारीगरी नही है। ईंटों की ठीक नाप और उनका सफाई के साथ काटा जाना, यहीं तक सिंधु-प्रांत के कलाकार अपना कला-प्रेम दिखला सकते थे। उनमे वह मनोहर तथा चित्ताकर्षक कारीगरी नही है जिसे हम बाद मे सारनाथ, भीतरगाँव तथा पहाडपुर की ईंटों पर पाते है। समस्त खुदाइयों मे केवल एक ईंट ऐसी मिली है जिसपर कोई चित्रलिपि खुदी है।

मिस्र देश मे रोम-काल तक पकाई हुई ईंटें व्यवहृत नहीं हुई थीं। मेसोपोटेमिया मे ऐसी ईटें प्रयुक्त तो होती थीं किंतु बहुत ही कम मात्रा मे। मेसोपोटेमिया मे स्नानगृहों या शौचगृहों मे ही पकाई हुई ईंटों का अधिक प्रयोग हुआ है।

दीवार चुनने से पहले उसकी दृढता के लिये नींव मे टूटी ईटे डाल दी जाती थीं। धूप मे सुखाई गई ईंटे केवल नींव मे काम आती थीं। जिन मकानों की नींव असावधानी से डाली गई है वे संभवतः निर्धन व्यक्तियों के घर हैं। मध्य युग मे जो इमारतें बनी थीं उनकी नींव असाधारण तथा दृढ है। मोहे जो दडो के मकानों की दीवारों मे कोई भद्दी या कुरूप ईटें नहीं लगाई गईं। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें बनाने से पहले सुंदर आकार की ईटे चुन ली जाती थीं।

समय समय पर लोग पुराने मकानों की ईंटे नए मकानों के लिये ले जाने लगे। कुषाण-काल में तो स्तूप बनाने के लिये बहुत सी ईंटे पुराने मकानो से निकाली गई थीं। सिंधु प्रांत के मकानों मे मिट्टी के गारे का प्रयोग होता था और इस कारण ईंटों के निकालने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती थी।

छोटे मकानों की दीवारें सीधी खडी रहती थीं पर बड़े मकानों की बाहरी दीवारे कुछ तिरछी कर दी जाती थीं। दीवारों में ईंटे खडे या सम रूप मे रखी जाती थीं। दीवारे बडी विशाल होती थीं। कुछ दीवारों के अंदर मलबा भी भरा जाता था। जिन प्राचीन दीवारों के ऊपर नई दीवार रखी

जातीं वे भी चिनाई करने से पहले समतल कर दी जाती थीं। यदि किसी दीवार के गिरने की आशंका होती तो उसके बाहर से सहायक दीवारें बना दी जाती थीं। दीवारों को चढाते चढाते ऊपरी भाग प्राय: तिरछा हो जाया करता था।

अंतिम युग की इमारते अति साधारण है। इनमे ईंटें ठीक ढंग से नही काटी गई है और न वे दीवारों में उचित ढंग से जोड़ी ही गई हैं। अतिम युग की दीवारों की चिनाई मे ईंटों के बीच बीच मे रिक्त स्थान भी हैं।

हड़प्पा के भवन मोहें जो दडो के सदृश विशाल नही थे। किंतु यह निर्विवाद नहीं है। क्योंकि हडप्पा के निकट ही एक गाँव है; यहाँ के निवासियों को जब कभी ईंटों की आवश्यकता जान पडी, उन्होंने हड़प्पा के टीलों को खोदा और ईंटें निकाल ले गए। इसके अतिरिक्त अनेक भवन लाहौर-मुल्तान रेलवे लाइन बनाने के समय नष्ट हो गए होंगे।

मकानों की दीवारों पर पलस्तर के कम ही चिह्न रह गए है। केवल दो एक मकानों पर ही पलस्तर के चिह्न मिले है। मि० मैके तो कहते है कि सिधु प्रांत के मकानों की बाहरी दीवारों पर भी पलस्तर लगाया जाता था। दीवारों पर पलस्तर प्राय: मिट्टी का ही होता रहा होगा। एक भवन मे घास और मिट्टी मिश्रित जला हुआ पलस्तर प्राप्त हुआ था। कुछ मकानों पर संभवत: जिपशम पलस्तर भी लगता था। एक मकान के अंदर फर्श पर एक गड्ढे मे जिपशम पलस्तर पाया गया है। इस

मकान की दीवारों पर लगाने के लिये इस गड्ढे मे यह पलस्तर तैयार किया गया रहा होगा। हड़प्पा के कुछ ईंटों के फर्शों पर तथा बारह गोल चबूतरो की चिनाई मे भी जिपशम प्रयुक्त हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अंतिम युग मे राजपथ पर स्थित भवनों की बाहरी दीवारों पर एक प्रकार का हल्का नीले रग का सीमेंट लगाया जाता था।

मकान प्रायः दो खड के होते थे। इन मकानों की छत पर समतल फर्श होता था। मकानों के ऊपर की छत पिटी मिट्टी अथवा कच्ची या पक्की ईंटो की होती थी। इनमे पिटी मिट्टी की छते अधिकतर प्रयोग मे थीं। संपन्न व्यक्तियो के मकानों की छतों पर पकाई ईंटे रखी जाती रही होंगी। ऊपरी खड के फर्श के नीचे कड़ियों के ऊपर छड़ियाँ और घास आदि डाल दी जाती थीं। इनके ऊपर फिर मिट्टी का फर्श बैठाया जाता था। कड़ियों का प्रयोग मोहे जो दड़ो मे बहुत होता था। एक कमरे मे बहुत सी जली राख पडी थी। इसकी दीवारों के झुलसने से ज्ञात होता है कि बीच के फर्श पर कड़ियाँ पडी थीं। दीवारों मे कड़ियो के लिये छिद्र बने थे। खेद है कि दीवारों के ऊपरी भाग टूट गए है, इसलिये अधिक-तर कड़ियों के छिद्र दिखलाई नही पड़ते। राजमहल सदृश भवनों पर चार कड़ियों के छिद्र हैं।

मोहे जो दडो के भवनों में आम सडकों की ओर कम दर-वाजे पाए गए है। दरवाजे प्रायः गलियों की ओर बनाए जाते थे।

दरवाजों पर लकडी की चौखट बैठाई जाती थी। इनके ऊपर धनुषाकार मेहराब नहीं बनती थी। मेहराबों के स्थान मे लकडी के पटाव प्रयुक्त होते थे। केवल एक दरवाजे के ऊपर मेहराब दीख पडती है। यह बतलाना कठिन है कि दरवाजों की चौखटें कैसे खड़ी की जाती थीं। बगल की दीवारों पर तो चौखट फँसाने के कोई छिद्र नही है। संभवत: पटाव के भार से ही चौखटें खड़ी रह जाती थीं*। कुछ दरवाजे ऊँचाई मे कम पर चौड़ाई मे अधिक है; अनुमानत: इन दरवाजों से पशु आते जाते थे। खिडकियों के बहुत ही कम चिह्न प्राप्त हुए है। शायद खिड़कियाँ कुछ ऊँचाई पर बनाई जाती थी। यह भी सभव है कि अधिकतर वे ऊपरी खंड मे बनाई जाती थी। बड़े स्नानागार के कुछ कमरों में अवश्य खिडकियाँ है। पत्थर की जालियाँ भी सिधु-प्रात-निवासियों को ज्ञात थी। अलबास्टर की एक सुदर जाली मिली है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अधिकतर जालियाँ मिट्टी की ही बनाई जाती थी।

एक सुंदर ताँबे की बनी चटखनी जैसी वस्तु मोहें जो दड़ो मे प्राप्त हुई है। चूँकि यह एक अधजली लकड़ी की कडी के साथ पाई गई थी, इसलिये यह माना जा सकता है कि यह किसी कडी को जोडने की कील थी†।

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० १६७।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० ४७६।

ऊपरी खंडों मे जाने के लिये सीढियाँ बनी थीं। इन सीढियों के अवशेष अभी तक दीख पडते है। ये सीढियाँ बहुत कम चौडी है। इसका कारण संभवत: यह है कि मोहे जो दडो के मकानों मे सदैव स्थान की कमी रहती थी। अभी तक बड़े आकारों की केवल दो सीढियाँ मिली है। ये ८. ५ इच चौडी तथा २.२५ इच ऊँची है। ये दोनों सीढियाँ साथ साथ थीं। कुछ सीढ़ियाँ तो बिल्कुल पकाई ईटों की बनती थी, किंतु कुछ के बाहर से ही ईंटे लगती थीं। इनके अदर कर्कट आदि भरा जाता था। धनाढ्य लोगों के घरों मे बड़े आकार की सीढ़ियाँ होती थीं। जिन मकानों मे सीढियाँ नहीं हैं वहाँ शायद लकडी की सीढियाँ बनाई गई थीं। वैसे तो स्नानागार के कुछ भागों से भी ज्ञात होता है कि उनमे लकड़ी की कुछ सीढियाँ बनी थी*।

एक बात विशेष रहस्य की यह है कि हडप्पा के मकानों मे बहुत ही कम सीढियाँ बनाई गई थी। हडप्पा की समस्त खुदाइयो मे केवल तीन स्थानों मे सीढियाँ पाई गई है।

अतिम युग मे बहुत ही कम सीढियाँ बनी थी। उस समय मोहे जो दडो नगर मे भिन्न भिन्न व्यवसायों वाले लोग बस गए थे। किंतु नगर समृद्धिहीन था। निर्धनता के कारण लोग दो खड के मकान नहीं बना सकते थे†।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० १३३।

† मैके—फ० य० मो०, पृ० १६६।

अँगीठियाँ या चूल्हे मकानों के बाहर बनते थे। इनके लिये प्रांगणों के एक कोने पर ऊँचा स्थान बना दिया जाता था। चूल्हों के ऊपर तो बर्तन रखे जाते थे और नीचे लकडी डालकर आग जलाई जाती थी।

कुछ मकानों के दरवाजों के अंदर जरा हटकर पर्दे के लिये दीवारें बनाई गई थीं।

सभी साधारण तथा असाधारण भवनों मे कुएँ बने थे (चित्र सं० १७)। साधारणतः वे आकार में गोल हैं, किंतु दो कुएँ अंडाकार भी हैं। जनसाधारण के लिये कुएँ उचित स्थलों पर मकानो से बाहर बनते थे। किंतु कई घरों के निजी कुएँ भी बाहर के लोगों के लिये खुले थे। कुछ कुओं के निकट गड्ढे से बने हैं। उस काल मे भी मोहे जो दडो नगर के कुओं पर बड़ी भीड रहा करती रही होगी। इस कारण अपनी बारी आने तक गाँवों की स्त्रियाँ इनपर अपने घडों को रख देती रहीं होंगी। कहीं कहीं कुओं के निकट तिपाइयाँ भी बनी है। इनपर बैठकर स्त्रियाँ प्रायः गपशप करती रही होंगी। कुछ कुओं के निकट बड़े बडे घडे भी रखे थे। संभवतः इनमे यात्रियों के लिये पानी भरा रहता था। भारत मे जल-दान बडा पुण्य माना गया है। संभवतः नगर-निवासियो की ओर से ये घडे यहाँ पर रखे गए थे।

कुओं के मुँह पर चारों ओर से एक दीवार बनी रहती थी। जैसे जैसे भूमि की सतह ऊँची होती गई वैसे वैसे इन दीवारों को भी ऊँचा किया गया। पानी संभवतः आज कल की ही तरह

चि० स० १७

रस्सी द्वारा खींचा जाता था। कूप की मडर का एक पत्थर रस्सी की रगड से घिसा मालूम होता है। ऐसी रगड से रक्षा क लिये कुओं की ऊपरी दीवारे सुदृढ बनाई जाती थीं। उद्धरण-यन्त्र का भी निजी कुओं मे प्रयोग होता रहा होगा*। कुछ कुओं के अदर से सीढियाँ भी बनी थीं। दो कुएँ बद कर दिए गए थे। जान पडता है इन कुओं मे गिरकर कुछ मनुष्यों की मृत्यु हुई थी।

हडप्पा मे अपेक्षाकृत बहुत ही कम कुएँ निकले हैं। समस्त खुदाइयों मे यहाँ केवल छः कुएँ मिले है। ये कुएँ भी एक दूसरे से दूरी पर हैं। श्री वत्स ठीक ही कहते है कि हडप्पा निवासी पीने के लिये ही इन कुओं से पानी लेते थे। अन्य कार्यों के लिये उन्हे नदी से पानी मिल जाता रहा होगा†। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि एक समय रावी नदी हड़प्पा के निकट होकर बहती थी।

आज ५००० वर्ष बाद भी इन कुओं की मजबूती को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इनकी ईंटे इतनी सफाई के साथ चुनी गई थीं कि प्रकृति के अनेक प्रहारो से भी वे नष्ट नहीं हो सकी हैं। ये कुएँ साफ किए जाने पर आजदिन भी खूब काम दे रहे है।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २७०।

† वत्स—य० ह० पृ० १४।

अंतिम युग मे कोई भी नया कुआँ नहीं बना था। उस समय नगर की समृद्धि जाती रही थी और लोग नए कुओं के बनाने के व्यय को वहन नहीं कर सकते थे। इस कारण इस समय लोगों ने पुराने कुओं की ही मरम्मत कर काम चलाया* ।

कुछ कुओं के निकट नालियाँ भी बहती हैं। आधुनिक स्वास्थ्य-रक्षा-विभाग की दृष्टि से इन नालियों का कुओं के निकट होकर बहना उचित नही है। कभी कभी जब नालियों मे बहुत पानी और कीचड बहता रहा होगा तो कुछ कीचड़ या पानी ऊपर बहकर कुओं के अंदर भी चला जाता रहा होगा। यह बतलाना कठिन है कि कुओं की नियमित रूप से सफाई होती थी या नहीं। किंतु जब नालियों की नियमित रूप से सफाई होती थी तो कोई कारण नहीं है कि इन कुओं की सफाई की भी उस काल मे कोई व्यवस्था न रही हो।

मोहें जो दडो मे कई घरों मे निजी स्नानगृह थे। स्नान-गृहों की प्रचुरता से ज्ञात होता है कि जलपूजा के अतिरिक्त यहाँ के निवासी निजी शुद्धता पर भी विशेष ध्यान देते थे। स्नानागारों के फर्शों पर ईंटें बडी सफाई के साथ लगाई जाती थीं। इनसे एक बूँद भी पानी नीचे नही जा सकता था। कुछ फर्शों के ऊपर लाल रग का कोई पदार्थ भी लगा

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० २०।

चि० सं० १८

था। मि० मैके कहते है कि यह रग मालिश के तेल या पसीने के कारण उत्पन्न हुआ है*। ऐसा ज्ञात होता है कि निजी घरों मे ऊपरी खड मे भी स्नानगृह थे। इनका पानी साधारण नालियों मे, जिनका लगाव बडी सडकों से था, बह जाता था। इन कमरों मे कुछ ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई है जिनके द्वारा शरीर का मैल निकाला जाता था। ये वस्तुएँ शायद झावों का काम देती थीं।

मोहे जो दडो मे कुछ अच्छे ढंग के शौचगृह भी निकले है (चि०सं०१८)। कभी कभी ये स्नानगृहों के बगल ही मे बना दिए जाते थे। हाथ पैर धोने के लिये जो फर्श है वे भी अति सुदर तथा दृढ है। इस शैली के फर्श मेसोपोटेमिया मे किसी भी युग मे नहीं बने। यह सत्य है कि मेसोपोटेमिया की पूजा-पद्धति मे हाथ पैर धोकर ही मदिरों मे प्रवेश किया जाता था, किंतु मेसोपोटेमिया मे मदिरों के निकट ही इस सुविधा के लिये कुएँ बना दिए गए थे। दूसरी ओर मोहे जो दडो मे निजी मकानों मे हाथ पैर धोने के लिये सुदर गृह बनाए गए थे। संभवतः मोहे जो दडो और मेसोपोटेमिया की जल-पूजा-विधि तथा धार्मिक भावनाएँ भिन्न प्रकार की थीं†।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १६६-६७।

† मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २५।

कुछ शौचगृह आजकल की ही तरह ऊपरी खड में भी बनते रहे होंगे। निर्धन व्यक्ति खुले मैदानों मे जाते थे। 'पौर' के प्रबंध से शौचगृह आधुनिक काल की ही तरह रात्रि मे साफ कर दिए जाते रहे होंगे। बौद्ध स्तूप से लगभग ९०० फुट की दूरी पर एक बड़ा स्नानागार है (चि० स० १९)। यह मध्य मे ३९ फुट लंबा, २३ फुट चौड़ा तथा ८ फुट गहरा है। इसके चारों ओर कई बरामदे और प्रकोष्ठ है। दक्षिण की ओर एक लबा प्रकोष्ठ है जिसके दोनों कोनों पर दो छोटे छोटे कमरे बने है। पूर्व की ओर छोटे कमरों की एक पंक्ति है। उत्तर की ओर बड़े आकार के कमरे थे। इस स्नानागार की दीवारें बड़ी दृढ है। दीवार के दोनों ओर तो पक्की ईंटें लगाई जाती थी और बीच मे कच्ची ईंटें डाली जाती थीं। तालाब की ईंटें भी दर्शनीय हैं। इनको किसी औजार से बडी सफाई के साथ काटा गया है। कुछ दीवारे ४ फुट ५½ इच तक मोटी है। तालाब की बाहरी दीवार पर बिटूमन (गिरिपुष्पक) की एक तह है। बिटूमन का प्रयोग सिधु प्रांत मे कम हुआ है, किंतु सुमेर और बेबीलोन मे इसका बहुत प्रयोग हुआ है। बिटूमन सिंधु नदी के किनारे स्थित ईसा खेल, यार्री और सनाई पहाड़ियों (बलूचिस्तान) तथा हित मे मिलता है। इन्हीं मे से किसी स्थान से मोहें जो दडो मे बिटूमन आया होगा। बिटूमन एक मूल्यवान् तथा कठिनाई से प्राप्त होनेवाला पदार्थ है और इसका स्नानागार की दीवारों पर प्रयुक्त होना इस स्नानागार की विशेष महत्ता को सूचित करता है। स्नानागार
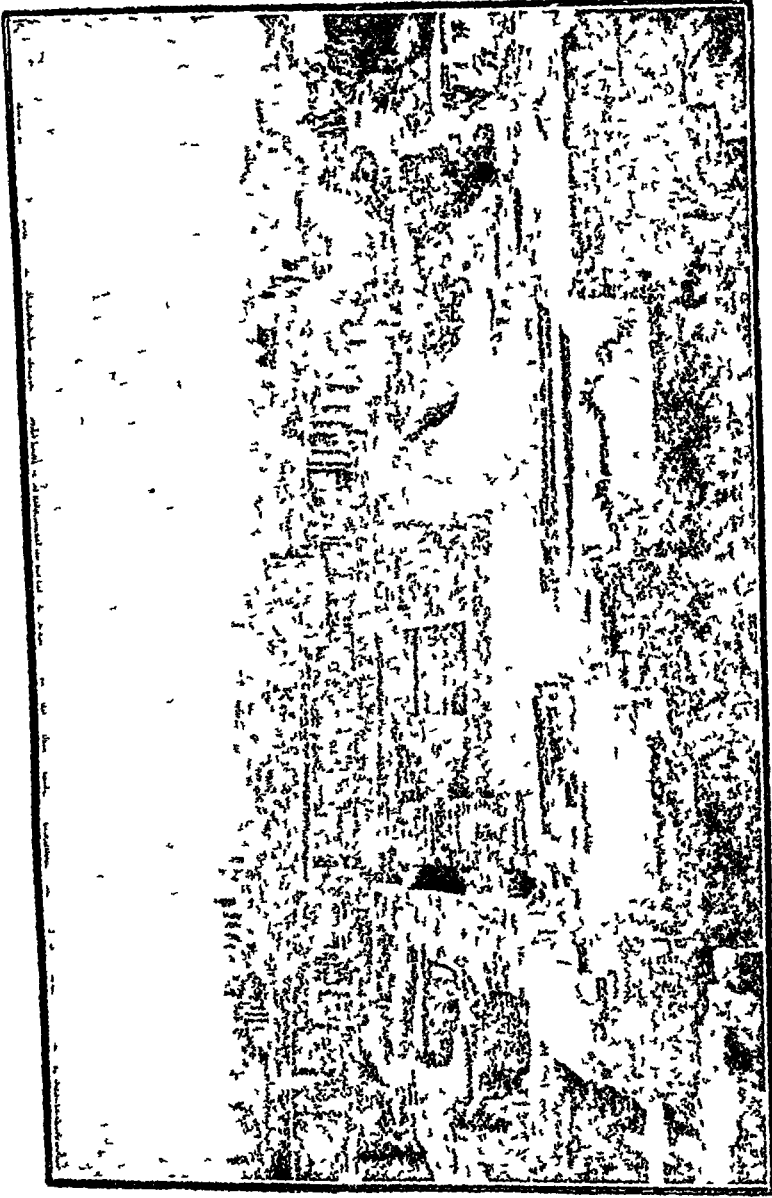
चि० स० १६

के अंदर की दीवारों पर ईंट के बारीक चूर्ण तथा मिट्टी का मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था* ।

विद्वानों का मत है कि इस स्नानागार का जल पवित्र समझा जाता था और इसमे लोग स्नान-पूजा करते रहे होंगे। इसके निकट ही सभवत: एक मंदिर भी था।

इस स्नानागार के दक्षिण मे फर्श कुछ ढलुवाँ बना दिया गया है। यहाँ से १ फुट १ इच चौडी तथा ६$\frac{3}{4}$ इंच गहरी मोरी है। इस मोरी से समय समय पर तालाब का जल बाहर निकाला जाता था। तालाब मे नीचे जाने क लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। इसकी खुदाई करते समय यत्र तत्र कुछ जली राख भी मिली है। सभवत: स्नानागार के कुछ कमरे दो खड के थे। उन्ही की छत कभी जल गई रही होगी। स्नानागार मे जाने के लिये छ: दरवाजे थे।

स्नानागार के दक्षिण-पश्चिम की ओर पूरी तथा पक्की ईंटों की वेदियॉ बनी हैं। इनके निकट राख तथा जला कोयला मिला है। कुछ इमारतों की बनावट से पता लगता है कि उनमे हम्माम बने थे। इन इमारतों की दीवारों मे स्थान स्थान पर ऐसे नल लगे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इनमे गर्म जल भरा रहता था। हम्माम के अतिरिक्त यह भी संभव है कि इन नलों के द्वारा शीतकाल मे कमरे गर्म किए जाते थे। चन्हूदड़ो के लोग भी संभवत: हम्माम से परिचित थे† ।

---

* आ० स० रि० १६२५-२६, पृ० ७७।

† वही, पृ० ४४।

मोहे जो दड़ो में अनेक सुंदर नालियाँ बनी थीं। नालियों का इतना सुंदर प्रबंध प्राचीन काल के अन्य किसी देश मे नहीं मिलता। मोहे जो दड़ो सदृश नगर मे जहाँ घनी जन-संख्या के अतिरिक्त बाहर के लोग भी आया जाया करते थे, यह आवश्यक था कि सफाई का सुंदर प्रबंध रखा जाता। प्रत्येक सडक तथा गलीयों मे नालियाँ बनी थीं। नालियाँ २ इंच से लेकर १८ इंच तक गहरी हैं। एक प्रधान सडक की बड़ी नाली मे ही चारों ओर की गलियों की नालियाँ आकर मिलती हैं। घरों का पानी प्रायः मिट्टी के परनालों या नलों द्वारा भी बह जाता था। नालियाँ साधारण ईंटों की ही बनती थीं। इनको जोडने के लिये मिट्टी या चूना-जिपशम-मिश्रित पलस्तर लगाया जाता था। मध्य युग की एक नाली के पलस्तर मे चूना भी मिला हुआ है। आश्चर्य होता है कि जिपशम को छोड़कर चूना इन लोगों ने क्यों पसंद किया। चूना तो कहीं अधिक मूल्यवान् होता है। मिस्र, बेबीलोन आदि देशों तक मे चूना बहुत ही कम मात्रा मे प्रयुक्त होता था*।

ये सभी नालियाँ ईंटों या पत्थरों से ढकी जातो थीं। चौड़ी नालियों पर बड़े पत्थर और बडी ईंटें लगाई गई थीं। नालियों मे कभी कभी दतक मेहराब भी बनी होती थी। नालियों के कीचड़ तथा कूड़े के लिये स्थान स्थान पर गड्ढे बने थे।

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १६२।

नालियों से कीचड़ निकालकर इन गड्ढों मे डाला जाता था। बाद मे यह कीचड भी गड्ढों से निकाल दिया जाता था। ये गड्ढे गहरे भी हैं। कुछ गड्ढो में तो नीचे जाने के लिये सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। कभी कभी निजी घरों के परनाले बडी नाली मे न गिरकर मकान के बाहर बने हुए नावदानो मे गिरते थे। ये नावदान तले की ओर छिद्रवाले घडों की तरह होते थे। कुछ स्थानों पर ये घडे चारों ओर से ईंटों से दबा दिए गए हैं। धनी लोग पक्की ईंटों के नावदान बनवा लेते थे। सड़क की नालियो के किनारो पर रेत के कई ढेर मिले है और ऐसा ज्ञात होता है कि ये नालियाँ नियमित रूप से साफ की जाती थी। इस प्रकार की नियमित सफाई से इन नालियो के पानी के बहाव मे कोई रुकावट नहीं होती थी।

सिंधु प्रांत निवासी मिट्टी की नालियाँ या व वे भी बनाते थे। इनके द्वारा भी मकानो का पानी बाहर निकाला जाता था।

कहीं कहीं गलियो की ओर की नालियो का पानी सीधे एक बड़े गड्ढे मे जमा होता था और उन्हीं मे समा या सूख जाता था। कूडा आदि बाद मे जमादार उठा लेते रहे होगे। चेटपुट (मद्रास) मे भी प्राचीन काल के कई ऐसे गड्ढे मिले थे*। किंतु तक्षशिला और अन्य ऐतिहासिक युगों के जो गड्ढे हैं वे मोहे जो दडो के गड्ढो से कहीं अच्छे है।

---

* इडियन ऐंटिक्वेरी, फरवरी १६३२, पृ० ३२।

निजी मकानों के अंदर कम नालियाँ होती थीं। संभवतः उस काल के भवनों में भोजन तथा स्नानगृह अधिकतर सड़कों की ही ओर बनते थे। इनका पानी एकदम सडक पर चला जाया करता था। ऊपरी खंड से पानी निकालने में सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि पानी के छीटे आदि मार्ग मे आने जानेवाले लोगों पर न पडें। जहाँ पर मिट्टी के परनाले या नालियाँ टूट जाती थी वहाँ जिपशम का पलस्तर लगा दिया जाता था।

स्नानागार तथा शौचगृहों की नालियाँ प्रायः दीवारों मे ही बना दी जाती थीं। इनमे सभवतः पानी एकदम ऊपर से नीचे के खड तक निकल जाता था।

जैसे जैसे भूमि की सतह उठती गई वैसे वैसे इन नालियों को भी ऊँचा करने की आवश्यकता पडी। किंतु ऐसा थोड़े ही समय तक किया गया। बाद को तो पुरानी नालियाँ छोड़ देनी पड़ीं और इनके स्थान पर नई नालियाँ बनाई गईं। अंतिम युग में नालियों की देख भाल के लिये कोई रक्षक नियुक्त नहीं रहता था। बाद की नालियाँ लापरवाही से बनाई गई हैं। इस युग मे लोग मनमाने ढग से जहाँ चाहते नालियाँ बना लेते थे।

मेसोपोटेमिया के इश्नूना नगर मे भी नालियों का वैसा ही प्रबंध था जैसा कि मोहें जो दडो मे था*। किंतु मिस्र की

---

* मैके—फ० य० ह०, पृ० १७०।

चि० स० १४
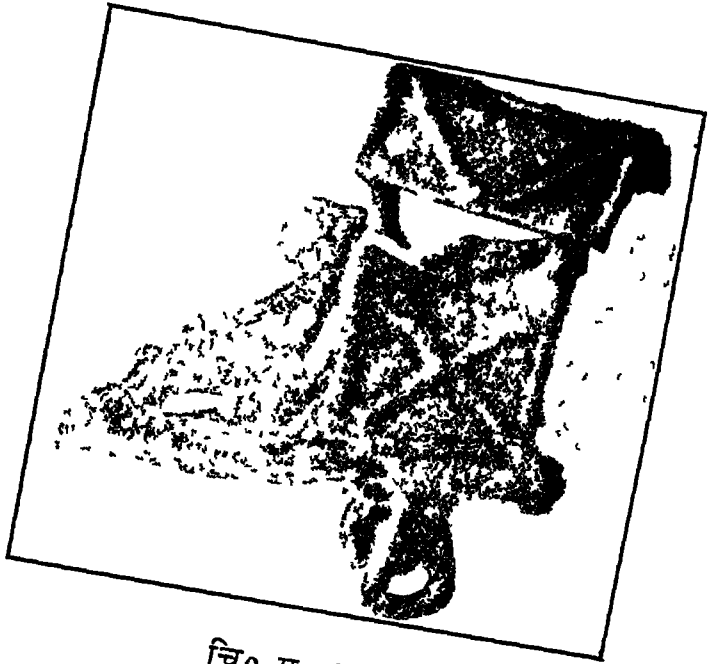
चि० स० २५
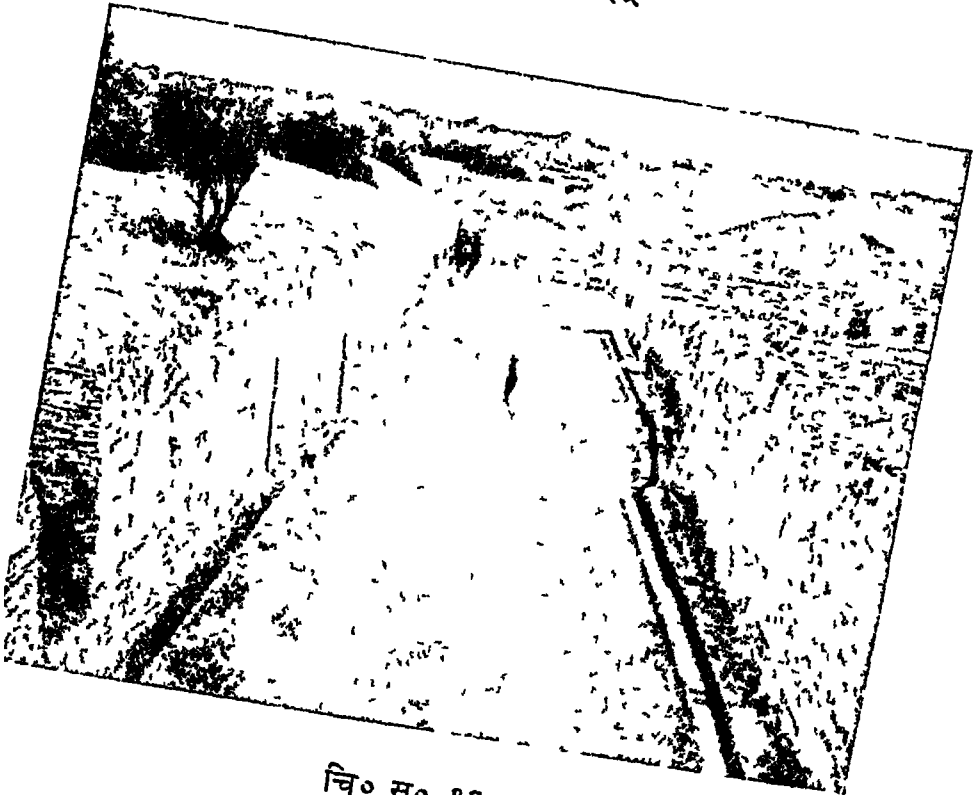
चि० स० १६

नालियाँ इतनी सुंदर नहीं थी। मोहें जो दड़ो की कई नालियों में तो जोड के चिह्न तक नहीं दिखाई पडते।

मोहें जो दड़ो निवासी नगर-निर्माण-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थे। सभवतः उचित स्थान चुनने के बाद नगर का एक नकशा बना दिया जाता था। इस नकशे मे यह दिखाया जाता था कि कहाँ पर कौन मकान बनेंगे और किस दिशा की ओर प्रधान सडकें बनाई जायँगी। सडकें एक दूसरी से प्रायः सम-कोणों पर कटती है। ये सडकें बिल्कुल सीधी हैं (चि० सं० १४)। एक लंबी सडक, जिसको राजपथ नाम दिया गया है, पौन मील तक साफ की गई है। यह सडक कहीं कहीं पर ३३ फुट चौडी है। गलियाँ ३ फुट से ७ फुट तक चौड़ी होती थीं। प्रधान सडके पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। इन सडकों पर स्थित भवनों को शुद्ध हवा मिलती रही होगी। हवा का एक तेज झोंका एक कोने से दूसरे कोने तक की हवा को शुद्ध कर देता रहा होगा। इधर उधर की सब गलियाँ राजपथ से मिल जाती थी। प्रायः सभी सड़के समानांतर हैं। इस समय सबसे महत्वपूर्ण सडक वह है जो दक्षिण की ओर जाती हुई स्तूप-भाग को दो भागों मे बाँटती है। इन सड़कों पर पहिएवाली तीन गाड़ियाँ तथा पैदल मनुष्य अच्छी तरह चल सकते रहे होंगे (चि० स० १६ तथा २०)।

मोहें जो दड़ो की किसी भी सड़क पर ईंटे नहीं बिछी हैं। इस कारण वर्षा के दिनों मे इन सड़कों पर कीचड़ भर जाता

१४

रहा होगा। फिर न जाने इन सड़कों पर बैलगाड़ियाँ या रथ, जिनका मोहें जो दड़ो मे इतना अधिक प्रचार था, कैसे चलते रहे होंगे। एक सड़क पर कुछ टूटे बर्तनों तथा ईंटों के टुकड़े पड़े थे। शायद किसी समय यहाँ के नगरपतियों ने इन सड़कों पर इन चीजों के बिछाने का प्रयत्न किया होगा। प्रयोग के लिये ही ये चीजे इस सड़क पर डाली गई थीं।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सड़कें सदैव स्वच्छ रखी जाती थीं। ग्रीष्म ऋतु मे जब धूल उड़ने का डर रहता था तो सभवतः सड़कों पर पानी छिड़कने का कोई प्रबंध कर दिया जाता था।

द्वितीय युग की एक सड़क के दोनों ओर लबे और कुछ ऊँचे चबूतरे है। इनपर या तो रात्रि के समय लोग सोते रहे होंगे या इनपर हाट लगती रही होगी। ये दूकानें रात्रि मे ८, ९ बजे तक खुली रहती और उसके बाद आजकल ही की तरह उठा ली जाती रही होंगी*।

सड़कों के मोड़ पर कई मकानों के कोने घिसे मालूम होते है। संभवतः ये कोने बोझा ढोनेवाले पशुओं द्वारा घिसे गए थे जिनकी पीठ पर बड़े बड़े बोरे आदि रहते थे। किंतु कुछ मकानों के कोने तो जान-बूझकर गोल कर दिए गए थे। प्राचीन उर मे भी सड़कों के किनारों पर स्थित मकानों की दीवारों पर ऐसी ही रगड़ तथा गोलाई दीख पड़ती है।

---

* आ० स० रि० १६२६-३०, पृ० १००।

एक प्रधान सड़क का अतिम भाग द्वितीय युग मे बंद कर दिया गया था। यहाँ पर एक चबूतरे पर पॉच गड्ढों की दो समानातर पक्तियाँ थीं। इन गड्ढों मे रुकावट के लिये स्तंभ जड़े रहे होगे। मि० मैके का अनुमान है कि इस स्थान पर एक चुगीघर था। कौटिल्य के अमर ग्रंथ अर्थशास्त्र मे भिन्न भिन्न प्रकार के करो का उल्लेख है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि विक्री का माल सबसे पहले नगर के प्रमुख द्वार पर स्थित चुगीघर मे लाया जाता था। यहाँ पर फिर बोलियाँ बोली जाती थीं। जब माल की वास्तविक विक्री हो जाती थी तभी विक्रेता से कर लिया जाता था*। सभव है ऐसी ही कर-प्रणाली सिंधु प्रात मे भी रही हो। इस प्रबंध को देखकर हमे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मोहे जो दड़ो नगर का प्रबंध कोई उच्च सस्था करती थी।

सडको पर उचित स्थलो पर कूड़ेखाने बने थे। निजी घरों मे भी लोग अपने अपने कूडेखाने रखते थे। हड़प्पा के कूडेखाने धरती मे गड्ढे खोदकर ही बनाए जाते थे। इन कूड़ेखानों की सतह पर ईंटे बिछी है। नौकर लोग घरो में झाड़ू बुहारू देकर कूडे को इन्हीं गड्ढों मे फेक देते थे। मोहें जो दड़ो मे तो नगर के निकट ही ढेरो कूडा फेका जाता था। इससे नगर मे कुछ गदगी फैलती रही होगी†।

---

* कौटिल्य— अर्थशास्त्र, २, २५।

† आ० स० रि०, १९३०-३४, पृ० ५७।

मोहें जो दड़ो तथा हड़प्पा में अनेक विचित्र घरों की दीवारें निकली हैं। कुछ विशेष घरों को सर जॉन मार्शल मंदिर बतलाते हैं* ।

एक बड़े भवन को सर जॉन मार्शल तथा रा० ब० दयाराम साहनी ने खोदा था। इसके पूर्वी भाग मे १२ समानांतर तथा ५२ फीट लंबी दीवारें है। इसकी बनावट से पता लगता है कि यह एक भंडारघर था। हमारा अनुमान है कि प्राचीन काल मे मोहें जो दड़ो की सरकार को नगर-निवासी अन्न के रूप मे ही कर आदि देते थे। यह अन्न संभवतः इसी भवन मे एकत्र होता था। ऋग्वेद मे यह कर 'वाली' कहलाता था। प्राचीन काल मे राजा को कर रूप मे उपज का १/६ भाग देने की प्रथा थी और यह कर कौटिल्य के काल मे भी प्रचलित था† ।

ऋग्वेद युग में अन्न-संग्रह करने की विविध प्रथाएँ थीं। इसमे वर्णित शब्द 'खल', 'उपानस' तथा '...' तिर्दर—अन्न-संग्रह के भिन्न भिन्न ढंगों को सूचित करते है‡ ।

हड़प्पा के कुछ भवनों को भी अन्नभंडार माना गया है§। इन मकानों की दीवारें बडी दृढ है और कहीं कही

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०४ ।

† घोषाल—हिंदू रेवन्यू सिस्टम, पृ० ३५ ।

‡ देखिए—ऋग्वेद, १, ४८, ७; २, १४, ११; २, १४, २ ।

§ ऐ० वि० इं० आ०, जिल्द १२, १९३७, पृ० २ ।

वे ९ फुट तक मोटी है। ये भवन दो लंबी पंक्तियों में एक दूसरे के सामने है। प्रत्येक पंक्ति मे ६ वडे वडे भवन है। इन भवनों को भी छोटी छोटी दीवारों द्वारा कई भागों मे बाँटा गया है। इन छोटी दीवारों के ऊपर लकडी की कडियाँ रखकर उनके ऊपर फर्श बैठाया जाता था और उसी पर अन्न रखा जाता था। इन भवनों में अनाज रखने के अनेक वडे वड़े घड़े भी मिले हैं।

मोहे् जो दडो के बडे स्नानागार के उत्तर मे छोटे छोटे स्नान-गृहों का एक समुदाय है। ये स्नानगृह भी दो पक्तियों मे हैं। इनके बीच मे एक तग गली है जिसके नीचे एक नाली बहती है। ये सभी कमरे बड़े अच्छे ढग की ईंटों से बिछे हैं। कमरों का फर्श दरवाजे की ओर ढलुवाँ है। इसी ओर से पानी बाहर निकल जाता था। इन कमरों मे सीढ़ियाँ होने से अनुमान किया जाता है कि ये मकान भी दो खड के थे*। नीचे के कमरों के दरवाजे बहुत तग है। मि० मैके कहते है कि इन मकानों मे साधक या पुजारी रहते थे। वे पूजापाठ तथा ध्यान तो ऊपरी खड मे करते रहे होंगे और नीचे के कमरों मे स्नान करते रहे होंगे। इन साधकों के लिये यह आवश्यक था कि वे ससार के कोलाहल से दूर रहे।

---

* आ० स० रि० १९२७-२८, पृ० ७०।

स्तूप के निकट एक विशाल भवन था। इस भवन की एक दीवार २३०·७ फुट लंबी तथा ७८·५ फुट चौड़ी थी। बाहर की दीवारे कहीं कहीं ४ फुट मोटी हैं। संभवत: यह भवन दो या तीन खंडों का था। इसमें कई बरामदे तथा प्रकोष्ठ थे। भवन के प्रमुख द्वार से प्रवेश करते ही एक स्वागत करने का बड़ा कमरा था। आश्चर्य है कि इस भवन मे जल का कोई कुआँ नहीं है। इस भवन मे संभवत: प्रधान महंत या साधु-समुदाय का कोई प्रधान रहता रहा होगा। इसमे रहने के कमरे दक्षिण की ओर थे और अन्य कार्यों के लिये भी उचित स्थानों पर कमरे बना दिए गए थे। इस भवन मे बाद मे कई जातियों के लोगों ने आवश्यक परिवर्तन किए थे। बाद की बनी दीवारें अति साधारण है*।

एक महत्त्वपूर्ण इमारत को राजमहल माना गया है। इसकी दीवारें ७ फुट मोटी है। अन्य दीवारें केवल ३ फुट मोटी है। इसकी विचित्र तथा विशद बनावट से ज्ञात होता है कि यह राजभवन था। आज इस भवन की केवल नींवें ही दीख पड़ती है†।

स्नानागार के निकट मध्ययुग का एक स्तंभाधार सभाभवन है। इसकी छत २० समचतुरस्र स्तंभों पर टिकी थी। प्रत्येक पंक्ति

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० १०-१३।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० ४६।

मे ४ या ५ स्तंभ थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकतानुसार समय समय पर इस भवन मे परिवर्तन किए गए थे। मि० मैके इसे एक दूकान बतलाते है, किंतु श्री दीक्षित कहते है कि यह भवन धार्मिक वाद-विवादो के निमित्त बना था। दूसरी ओर सर जॉन मार्शल इस भवन की तुलना बौद्धकालीन गुफा-भवनों से करते है। इस भवन के बीच मे प्रधान के लिये संभवतः एक चौकी बनी थी और अन्य लोगो के लिये किसी अस्थायी पदार्थ के आसन बनाए गए थे*।

पटने मे भी डा० स्पूनर ने सैकड़ों वर्ष बाद का एक १०० स्तंभों का सभाभवन खोद निकाला था। कतिपय विद्वानों ने इस भवन की तुलना पर्सिपोलिस के एकेमेनियन सभाभवनों से करके इस बात की पुष्टि की है कि पाटलिपुत्र के भवनों की रूप-रेखा एकेमेनियन भवनों की ही शैली पर तैयार की गई थी†। किंतु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम कह सके कि भारत का एकेमेनियन संस्कृति के साथ कोई सीधा सबध था‡। मोहे जो दड़ो की खुदाइयो से यह प्रमाणित हो गया है कि भारतवासी ५००० वर्ष पूर्व भी स्तभोंवाले भवनों से परिचित थे।

---

* मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०५।

† आ० स० मे०, न० ३०, पृ० ११-१२।

‡ विशेष विवरण के लिये देखिए 'रूपम' स० ३५-३६।

सड़कों के किनारे के कुछ बड़े बड़े कमरों में गड्ढे हैं। इन गड्ढों में मिट्टी के बड़े बड़े घड़े रखे जाते थे। ये शायद होटलों के कमरे थे और इन घड़ों मे कोई मादक पदार्थ भरा रहता था। प्राचीन भारत में राजा को मदिरा की बिक्री से अच्छी आमदनी होती थी। कौटिल्य ने राज्य-कर्मचारियों की सूची में एक सुराध्यक्ष का भी उल्लेख किया है*। यह भी संभव है कि इन कमरों मे प्याऊ स्थित रहे हों और घड़ों मे शुद्ध जल भरा जाता रहा हो। जल का यह प्रबंध नगरसभा की ओर से होता रहा होगा। मोहेंजो दड़ो के एक कमरे में तो एक कुआँ भी बना था। इसके निकट ही घड़ों को रखने के लिये कुछ गड्ढे बने थे। यह भी एक प्याऊ था†।

प्रत्येक घर में एक एक आँगन होता था। इसी आँगन के एक कोने पर भोजनगृह बना रहता था। दो खंड के घरों में संभवतः पृथक् पृथक् परिवारों के लोग रहा करते थे। इस कारण सीढ़ियाँ प्रायः बाहर ही से बनती थीं। जैसे जैसे कुटुंबों में व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गई, घरों का भी विभाजन होता गया। स्थान की कमी के कारण लोग उद्यान नहीं बना सकते थे। घरों को बनाते समय सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वे सड़कों में किसी प्रकार बाधक न हों।

---

* कौटिल्य—अर्थशास्त्र, २,२५।

† मार्शल—मो० इं० सि०, पृ० २०५।

घरों मे पहले बडे कमरे बना लिए जाते थे। इसके बाद उनका छोटे छोटे कमरों में विभाजन होता था। विभाजन की दीवारें सदैव बडे कमरो की दीवार से हटकर होती थीं। एक की दीवारों मे दूसरे की ईंटों का प्रवेश नहीं कराया जाता था*।

एक स्थान पर १६ इमारते खोदी गई हैं जिनका प्रवेशमुख प्रधान सडक की ओर था। ये सब भवन एक ही तरह के हैं। प्रत्येक भवन में एक कमरा सामने तथा दो कमरे पीछे की ओर बने हैं। अंदर के कमरो मे हाथ-मुँह धोने के लिये भी एक स्थान बना था। यह सभवत. दूकानों का एक समूह था†।

एक दूसरी प्रधान सड़क के भी, जो नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर जाती है, दोनो ओर बडे बडे भवन है। इन भवनो की दीवारें बडी दृढ़ हैं। सभवत: इन भवनो मे बाहर से आनेवाले पशु और सामान रखे जाते थे।

कुछ छोटे छोटे मकानो मे दरवाजे या खिडकियाँ नहीं है। ये शायद तहखाने थे। इनमे जाने के लिये ऊपर से सीढी रखी जाती रही होगी।

दीवारो के कुछ खाली स्थानो को देखकर ज्ञात होता है कि इन स्थानो पर आलमारियो की चौखटे जडी रहती थीं। आलों के सदृश भी कुछ छिद्र हैं।

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० २७२-७३।

† आ० स० रि०, १९२६-२७, पृ० ७७ ७८।

हड़प्पा में बारह विचित्र वृत्ताकार वेदियाँ मिली हैं। ये चार गोल ईंटों की तहों से बनी है। इनकी चिनाई में मिट्टी का ही पलस्तर पाया गया है। किंतु बाहर से ईंटों के जोड़ों पर जिपशम का पलस्तर लगा था। इन वेदियों के मध्य मे गहरे गड्ढे थे जिनमे जली राख, गेहूँ तथा जौ पड़े थे। यह ज्ञात नहीं कि ये वेदियाँ किस कार्य के लिये बनी थीं*। संभवतः ये हवन की वेदियाँ थीं।

दो अलग अलग कुटुंबों के घरों के बीच सदैव कुछ स्थान छोड़ दिया जाता था जिससे किसी प्रकार के झगड़े की आशंका न रहे। इससे ज्ञात होता है कि मोहे जो दड़ो निवासी अपने जीवन को कितना शांतिमय रखना चाहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि मोहें जो दड़ो नगर मे रात्रि के लिये पहरेदार नियुक्त थे। इन पहरेदारों के लिये सड़कों के कोनो पर कमरे बने थे। इन कमरों के दरवाजे सदैव प्रधान सड़क की ओर होते थे। मि० मैके का अनुमान है कि मोहे जो दड़ो नगर रक्षा के लिये कई भागों मे विभाजित था। सड़कों पर कहीं कहीं दीवारे बना दी गई है। ऐसी ही दीवारों से संभवतः नगर के विभिन्न भागों की सीमा बनाई जाती थी। सुचारु शासन के लिये मौर्य काल मे तो नगर चार

---

* वत्स—य० ह०, पृ० ७४।

भागों में बाँटे जाते थे, पर यह ज्ञात नहीं कि मोहें जो दड़ो नगर कितने भागों में विभाजित था।

गरीब लोगों के मकान सदा नगर से दूर बनते थे। चन्हू दड़ो की खुदाई से ज्ञात होता है कि वहाँ के कुछ मकानों की दीवारें घास-फूस की बनाई गई थीं। वहाँ अनेक स्थानो पर केवल फर्श और अँगीठियाँ ही दीख पड़ती हैं।

गरीब लोगो के पास इतना धन नहीं था कि वे अपने मकानो के लिये पकाई ईंटे खरीद या बनवा सकते। हड़प्पा मे कई मकान कच्ची ईंटो के बने थे। इसके अतिरिक्त हड़प्पा के दक्षिण-पश्चिमी भाग मे बाँस तथा लकड़ी के छड़ों की जली राख पाई गई थी। यह अनुमान किया जाता है कि इस भाग मे बाँस तथा घास-फूस की झोंपड़ियाँ थीं*। कुछ मकानों की दीवारे केवल मिट्टी की बनी थीं, जैसी आजकल भी देहातों मे बनाई जाती हैं। इनमे कभी कभी दीवार के निम्न भाग या नींव में ईंटों के टुकड़े डाल दिए जाते थे। पतली दीवारे तो मूल से ऊपर तक केवल मिट्टी ही की बनी है।

सबसे छोटे मकान ३० × २७ फुट नाप के थे। इनमे प्रायः ४ या ५ रहने के कमरे होते थे। बड़े मकानों का आकार प्रायः इनसे दुगुना होता था। इन मकानों मे छोटे छोटे तीस कमरे तक रहते थे।

---

* वत्स—ए० ह०, पृ० १६३।

नगर के किस भाग मे किस आजीविका के लोग रहते थे, यह बतलाना कठिन है। मोहे जो दड़ो नगर के स्थापित होने के समय तो मकान केवल रहने के लिये बनाए गए थे, किंतु पीछे यह एक व्यापारिक नगर हो गया था। मोहें जो दड़ो के एक भाग में मिट्टी के टूटे और जले बर्तन तथा भट्ठे दिखाई पड़ते हैं। यहाँ संभवतः कुंभकारों का मुहल्ला था। यह मुहल्ला तब बसा होगा जब मोहें जो दड़ो की सभ्यता गिर रही थी*। अन्यथा कुम्हारों को इस नगर में स्थान मिलना कठिन होता। हड़प्पा मे भी कुछ घरों को मजदूरों के घर माना गया है। इन घरों के बहुत ही कम चिह्न बच सके हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये बड़ी सावधानी के साथ बनाए गए थे। प्रत्येक घर मे तीन कमरे तथा एक आँगन था। संभवतः आँगनों मे भी ईंटें बिछी रहती थीं। गोल स्तभ जिनका इतना प्रचार सुमेर तथा मेसोपोटेमिया मे था, मोहे-जो दड़ो और हड़प्पा मे प्राप्त नहीं हुए हैं। सर जॉन मार्शल के मतानुसार सिधु प्रांत मे शहतीरों के खभे प्रयोग मे लाए जाते थे। खंभों के चार आधार भी मोहे जो दड़ो मे प्राप्त हुए है। इन आधारों मे शहतीरों के लिये छिद्र बने है।

मोहे जो दड़ो तथा हड़प्पा मे भवनों के सजाने की कोई वस्तु नहीं मिली है। यदि भवन केवल साधारण ईंटों ही के बनते

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० २२।

थे तो एकरूपता के कारण वे अधिक सुंदर नही होते रहे होंगे। चिरकाल से भारत सजावट और आडंबर के लिये प्रख्यात रहा है। इस आडंबर-प्रेम का उदय बहुत कुछ स्वर्णकार की कला से हुआ है, क्योंकि भारतीय कला मे बहुत कुछ ऐसा अलंकरण है जो सीधा स्वर्णकार की कला से आया है*। अजंता, अलौरा, बाँकुडा, खजुराहो, भुवनेश्वर तथा दिलवाड़ा के मंदिरों की कला भारतीय आडंबर-प्रेम के सर्वोत्तम उदाहरण है। सर जॉन मार्शल ठीक कहते हैं कि "आडंबर-प्रेम भारतीय कलाकार का जन्मसिद्ध अधिकार है। महात्मा बुद्ध की मूर्तियों मे, अजंता मे, हिंदू-जैन मंदिरों तथा मुगल सम्राटों के भवनों मे, सभी जगह यह आडंबर-प्रेम देखा जा सकता है"†।

किंतु इस आडंबर से मोहें जो दड़ो का स्थापत्य अछूता है। शायद दुमंजिले मकानों मे जँगले और खंभे लकड़ी के होते थे। इनपर ही कारीगरी की जाती रही होगी। यह निर्विवाद है कि प्राचीन सिंधु प्रांत मे लकड़ी प्रचुर मात्रा मे मिल जाती थी।

मोहें जो दड़ो की ईंटे सिंधु-सभ्यता की गौरव की वस्तुएँ है। किंतु न जाने किन कारणों से इनपर कारीगरी नही

---

* ग्रूनवेडल—बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, अँगरेजी मे जेम्स बर्जेज द्वारा अनूदित, पृ० ३०-३१।

† रूपम—अप्रैल १९२४, पृ० ६४।

की गई। ईंटों को भिन्न भिन्न ढंगों से दीवार मे चुनने को ही शायद वहाँ के निवासी सजावट मान लेते थे*।

इन सब बातों को देखने से पता चलता है कि सिंधु प्रांत के निवासी उपादेयता की ओर अधिक ध्यान देते थे। लौकिक दृष्टिकोण से वे अलंकरण को व्यर्थ समझते थे।

मानसार शिल्पशास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत ने प्राचीन काल में स्थापत्य सिद्धांतो मे कितनी उन्नति कर ली थी। मानसार मे निर्माणकार या 'स्थपति' की योग्यता के विषय मे लिखा है कि उसे बौद्धिक तथा सास्कृतिक दिशाओं में पूर्ण विज्ञ होना चाहिए। प्राचीन काल मे भवन बनाने से पहले कई बातों की परीक्षा की जाती थी। सबसे उपयुक्त स्थान वह समझा जाता था जो पूर्व दिशा की ओर हो और ढलुवाँ हो। इस दिशा से भवन पर सूर्य की किरणें ठीक पडती है। भूमि की परीक्षा मिट्टी को सूँघने, चखने तथा इन्द्रिय-अनुभव से होती थी। हैवेल साहब की धारणा ठीक है कि रहस्यवाद के अंतर्गत होते हुए भी भारतीय स्थापत्य सिद्धांतों मे एक बड़ा वैज्ञानिक ज्ञान भरा पड़ा है†। सिंधु प्रांत मे भी स्थापत्य-विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था।

---

* दीक्षित—प्री० सि० इं० वे०, पृ० १६।

† हैवेल—एंशट ऐंड मेडीवल आर्किटेक्चर ऑव् इडिया, पृ० ७-८।

फर्ग्यूसन तथा अन्य अनेक विद्वानों की धारणा है कि अशोक के काल से पहले भारत मे इमारतें केवल लकडी ही की बनती थीं। डा० वैडेल तथा स्पूनर ने भी पाटलिपुत्र की खुदाइयों से यही प्रमाणित किया था*। इन बातों की पुष्टि मेगस्थनीज के वर्णनों से भी होती है†।

मोहें जो दड़ो तथा सिंधु प्रात मे पत्थर का कम प्रयोग हुआ है। पत्थर केवल विशेष इमारतों के लिये प्रयुक्त होते थे। श्वेत या पीले रंग का पत्थर सिंधु नदी के तट पर स्थित सक्खर नामक स्थान से प्राप्त होता था। संगमरमर और खड़िया पत्थर किरथर पहाड़ियों से आता था।

अलवास्टर नमक की पहाड़ियो, गुडगाँव तथा काँगडा प्रदेश से प्राप्त किया जाता था।

मोहें जो दड़ो की नगर-निर्माण प्रणाली वास्तव मे बडी विशद थी। श्री दीक्षित तो कहते हैं कि ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन देश मे देखने को नहीं मिलती। पर अतिम युग मे मोहें जो दड़ो का स्थापत्य गिरता हुआ प्रतीत होता है। उस समय देखभाल के लिये कोई इंजीनियर या ओवरसियर नहीं थे। लोग विना सोचे समझे मकान बनाने

---

* आ० स० रि०, १९१२-१३, पृ० ७६।

† वैडेल—रिजल्ट्स ऑव् एक्सकैवेशन्स ऐट पाटलिपुत्र, पृ० ६४। अर्यान—इंडिका, ६०।

लगे थे। अनेक सडकों को मकानों की दीवारों ने दबा लिया था। कभी मकान सड़कों से बहुत दूर बनते थे तो कभी बिल्कुल निकट। इससे नगर की सुषमा बिगड़ गई थी। इस युग में दो खंड के मकानों का भी अभाव पाया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने यश के दिनों मे मोहें जो दड़ो के चारों ओर किलेबंदी थी, यद्यपि उसकी दीवारों के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए है। प्राचीन काल के सभी नगरों मे किलेबंदी की जाती थी। यह बात यूनानियों द्वारा लिखित वर्णनों से ही प्रमाणित नहीं होती बल्कि साँची तथा भारुत की कला से भी यही ज्ञात होता है। यदि मोहे जो दड़ो में कोई किलेबदी थी तो उसके अवशेष बालू के नीचे कहीं दबे होंगे।

सिंधु प्रात मे श्री मजूमदार को अली मुराद तथा कोहत्रास नामक स्थानों मे किलेबंदी के चिह्न प्राप्त हुए है। किंतु सिंधु-प्रांत मे पत्थर की कमी के कारण प्रत्येक स्थान पर किलेबंदी करना आसान काम नही था*।

भारत मे अति प्राचीन किले की दीवारें अब राजगृह मे ही दीख पड़ती हैं। श्री धम्मपाल का अनुमान है कि इस स्थान की रूपरेखा प्रसिद्ध स्थापत्य-विशारद महागोविंद ने तैयार की थी†।

---

* आ० स० मे० नं० ४८, पृ० १४७-४८।

† विमानवत्थु, कमेटरी पृ० ८२।

इन दीवारों के निर्माणकाल का कुछ पता नहीं है। इसके बाद हम स्ट्रैबो से सुनते है कि मौर्य-काल मे पाटलिपुत्र के चारों ओर ५६० गुंबज सहित लकडी की किलेबंदी थी* ।

——

* मैक्क्रिडिल—एंशट इंडिया, पृ० ४२ ।

अष्टम अध्याय

अन्य देशों के साथ संबंध

सिंधु प्रांत की सभ्यता के पिछले वर्णन से पाठकों को इसकी संस्कृति के विषय मे बहुत कुछ ज्ञात हो गया होगा। इस वर्णन मे हमने यत्र तत्र इस सभ्यता की तुलना इसके ही समकालीन अन्य प्राचीन देशों से की है। इसके अतिरिक्त हमे यह भी ज्ञात हो गया है कि सिंधु प्रांत की सभ्यता सिंधु प्रात तक ही सीमित न थी।

महान् सभ्यताएँ एक ही देश तक सीमित नही रहतीं। प्रत्येक सभ्यता देशानुसार कुछ बातों मे उच्च कौशल प्राप्त करती है और इस उच्च कौशल को दूसरी सभ्यताएँ सीखना चाहती हैं। यदि आवागमन की उचित सुविधाएँ हों तो यह और भी सरल हो जाता है। अफ्रेजियन कल्ट की सभ्यता के ही अंतर्गत सिंधु-प्रांत की सभ्यता आती है। यह सभ्यता नदियों के निकट उत्पन्न होकर उन्हीं के किनारों पर स्थित नगरों मे फैली थी। उपजाऊ भूमि मे रहने के कारण लोगों ने खेती मे तो उन्नति की ही, साथ ही सभ्यता-पूर्वक रहने का ढंग भी उन्होंने सर्वप्रथम इन्हीं नदियों के तट पर सीखा।

प्रस्तर-ताम्र युग मे भिन्न भिन्न देशों के बीच कई बातों मे समानता थी। फियांस, घोंघे, रजत, स्वर्ण तथा टीन के प्रयोग से पूर्व के सभी लोग परिचित थे। खेती तथा पशुपालन भी इन सभी देशों मे होता था। इसी प्रकार कुंभकार की कला और कताई-बुनाई से भी ये सभ्यताएँ परिचित थीं। किंतु इन सब समानताओं के होते हुए भी प्रत्येक देश ने अपनी अपनी संस्कृति मे अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लाने की चेष्टा की। यदि भारत मे कपास की खेती और कताई-बुनाई होती थी तो मिस्र और बेबीलोन मे अलसी की खेती तथा बुनाई होती थी। फिर मिट्टी के बर्तनों के ऊपर चित्रण करने मे भी प्रत्येक देश ने कुछ अपनी विशेषता दिखलाई। सुमेर के बर्तनों पर मनुष्य-आकृति का चित्रण है, किंतु मोहे जो दड़ो के एक भी बर्तन पर मनुष्य-चित्रण नहीं हुआ है। चित्रलिपि भी सभी देशो में प्रचलित थी, किंतु आवश्यकतानुसार सभी देशों ने थोड़ा बहुत परिवर्तन अपनी अपनी लिपि मे कर लिया था*। इन सभ्यताओं मे मोहे जो दड़ो कई बातों मे अग्रणी था। मोहे जो दड़ो मे जो स्थापत्य निजी या सार्वजनिक भवनों मे दिखाई पड़ता है वह मिस्र तथा बेबीलोन के स्थापत्य से कहीं उच्चतर है†। फिर सड़कों को साफ रखने की जो सुंदर व्यवस्था मोहे जो दड़ो नगर मे थी वह न तो मेसोपोटेमिया

---

* मार्शल—मो० इ० सि०, पृ० ९४।

† ऐ० वि इ० आ०, १९३२, पृ० ६।

में दिखाई पड़ती है और न सुमेर ही में। इसके अतिरिक्त जब संसार के कई प्राचीन देशों मे सूत का कपडा एक स्वप्न की वस्तु के समान था, उस समय सिंधुप्रांत-निवासी सूती कपड़े का प्रचुर प्रयोग कर रहे थे।

किंतु ये विशेषताएँ उच्च समाज को ही दीख पडती होंगी। जनसाधारण के लिये तो सिंधु प्रांत का इसी लिए महत्त्व था कि यह एक उपजाऊ तथा धन-धान्य से परिपूर्ण भूमिखंड था। इस कारण यहाँ व्यापारी ही अधिकतर आते थे। भूमिमार्ग से आने जाने वाले अन्य स्थानों के काफिले इसी नगर में टिकते रहे होंगे। मोहें जो दडो नगर मे इनके लिये अवश्य धर्मशालाएँ या सराएँ बनी रही होंगी। स्थल से सिंधु प्रांत मे आने के दो मार्ग थे। दक्षिण सिंधु तथा फारस को मिलानेवाली सड़क मक्रान और लासवेला रियासत से होकर जाती थी। आठवीं शती मे मुहम्मद कासिम भारत मे इसी मार्ग से आया था। बलूचिस्तान की ओर दो मार्ग थे। पहला मार्ग मुल्ला दर्रे से जोही होते हुए मनच्छर सरोवर के निकट पहुँचता था और दूसरा लक गर्री, लक फूसी, लक रोहेल तथा पडी वाही और टडो रहीम खान होते हुए सिध पहुँचता था*। ऊपर खैबर का दर्रा था, जहाँ से ऐतिहासिक युग मे भारत पर भी कई सफल आक्रमण हुए थे। बोलन दर्रे से

* आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० १५३।

भी संभवतः आवागमन होता था। इनके अतिरिक्त कुर्रम, गुयाल तथा टोछी की घाटियों से भी कुछ लोग सिंधु प्रांत मे आते रहे होंगे।

सिंधु प्रात, इलम तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं मे समानताएँ दीख पडती हैं। इलम तथा सुमेर मे सिंधु आदर्श की कई मुद्राएँ मिली है। जिन तहों या स्थलों पर ये मुद्राएँ निकली हैं उनकी आयु ई० पू० २८०० वर्ष मानी गई है। मोहे जो दडो मे मालाओं की लड़ियो के अंत मे लगाई जानेवाली वस्तुएँ अर्द्धवृत्त आकार की है। इस प्रकार के अतक केवल इलम मे ही पाए जाते है। बाद मे तो ये मिस्र मे भी बनने लगे थे। शृगार, केशरचना और हजामत बनाने के ढंग सुमेर और भारत मे एक ही से थे। हडप्पा की कुछ कटारें भी सुमेर की कटारो की ही तरह है। मेसोपोटेमिया तथा सिधु प्रात का वास्तव मे घनिष्ठ संबध था। गुरियो पर श्वेत अंकन की शैली सिधु प्रात तथा मेसोपोटेमिया, दोनों देशों के लोग जानते थे, किंतु यह पता नहीं है कि इस शैली की उत्पत्ति सर्वप्रथम किस देश मे हुई थी। हडप्पा मे प्राप्त शृगार या चीर-फाड के औजारों के गुच्छे की तरह अनेक गुच्छे उर, किश तथा काफेजी मे प्राप्त हुए हैं। इन सब औजारों को एक गोल छल्ले से बाँधा जाता था। मोहे जो दडो के रोटी बनाने के चूल्हे भी मेसोपोटेमिया ही की तरह थे।

---

* ऐ० वि० इं० आ० १९३२, पृ० ११।

दंतक मेहराब, गोल कूप और मिट्टी और पत्थर की बनी खिड़कियों की जालियाँ मोहे जो दड़ो तथा मेसोपोटेमिया मे एक ही सी थी। टेल आज्मर मे सिंधु आदर्श की कई मुद्राएँ मिली हैं। इनमे एक वर्तुलाकार मुद्रा विशेष महत्त्व रखती है। यह मुद्रा निस्संदेह भारतीय है। इस मुद्रा पर अंकित हाथियो के पैर, कान, खाल की परतों तथा नील गाय के कानो को चित्रित करने का ढंग बिल्कुल वैसा ही है जैसा प्राय: मोहे जो दड़ो की मुद्राओं पर पाया जाता है। फिर मोहें जो दड़ो मे ठप्पे लगाने की एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसके पीछे एक उठा हुआ दाना बना है और जिसके ऊपर एक केंद्रित वृत्त भी बना है। इस शैली की मुद्राएँ मेसोपोटेमिया के अतिरिक्त अन्य किसी देश मे नहीं दीख पडती। मेसोपोटेमिया के कंठहारों पर जो एक प्रकार की अंकित गुरियाँ हैं वे भी संभवत: सिंधु प्रांत से ही वहाँ गई है। मेसोपोटेमिया की एक मुद्रा पर भारतीय जेबू का भी चित्रण है। दानेदार शैली के बर्तन टेल आज्मर तथा मोहे जो दड़ो मे प्रचलित थे*।

मोहें जो दड़ो मे एक मुद्रा पर विचित्र चित्रण है। इसमे एक मनुष्य बाघ के साथ लडता दिखलाया गया है। सर जॉन मार्शल इस आकृति की तुलना मेसोपोटेमिया की दंतकथाओं मे वर्णित 'गिलगामेश' (इब्रानी वीर) से करते है।

---

* ऐ०वि० इं० आ० १६३२, पृ० ३५।

मोहे जो दडो के शौचादि गृहों के ही समान कुछ शौचगृह मेसोपोटेमिया मे भी थे। इनमे पानी को बाहर निकालने के लिये दोनों देशों मे एक ही शैली के छिद्र बने थे।

भिन्न भिन्न प्रकार के सख्त पत्थरो की गुरियो के ऊपर सोने की टोपी चढ़ाने की प्रथा मोहे जो दडो, उर तथा सुमेर मे प्रचलित थी। सुमेर मे इस शैली की कम गुरियाँ थीं। मोहे जो दडो मे इनके अधिकता से पाए जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस शैली की गुरियों का उद्गमस्थान मोहे जो दडो ही था यहीं से ये गुरियाँ सभवतः सुमेर को भी भेजी गई थीं *।

डा० फ्रैंकफोर्ट को टेल आज्मर मे कुछ ऐसे बर्तन प्राप्त हुए थे जिनकी सतह पर दाने बने हैं। इस शैली के बर्तन केवल मेसोपोटेमिया मे ही प्रचलित थे, किंतु मोहे जो दडो मे भी कुछ ऐसे बर्तन थे। यहाँ का एक बर्तन तो बिल्कुल टेल आज्मर के बर्तनों की तरह है।

किश मे छिद्रों सहित मिट्टी की कुछ गोल वस्तुएँ मिली है। ये इतनी छोटी है कि इनके कठहारो मे प्रयोग किए जाने मे संदेह होता है। सभवत. ऐसी वस्तुएँ किसी खेल मे काम आती थीं। ऐसी ही अनेक वस्तुएँ मोहे जो दडो मे भी प्राप्त हुई है।

मोहे जो दडो की गुरियो तथा मूर्तियों पर जो त्रिपत्र शैली का चित्रण है वह निस्सदेह मेसोपोटेमिया से लिया गया है।

---

* इ डियन ऐंटिक्वेरी, दिसबर, १९३१, पृ० ४६५।

यह त्रिपत्र शैली यूनान तथा फारस मे भी प्रचलित थी। पर यह ज्ञात नहीं है कि यह शैली कैसे उत्पन्न हुई। यह सभव है कि यह त्रिपत्र तीन वृत्तों के एक दूसरे को काटने से बना हो।

कंकड पत्थर का बना एक कान का आभूषण श्री साहनी ने प्राप्त किया था। इसपर खुले पंखो तथा चौडे पैरोंवाले गरुड़ का चित्रण है। ऐसा चित्रण विशद रूप मे इलम तथा सुमेर मे मिलता है। मोहे जो दडो मे इस ढंग का चित्रण बहुत कम हुआ है। कदाचित् यह शैली फारस के ऊँचे पहाड़ों से निकलकर भारत मे आई हो*।

उर की शाही कब्रों पर गोलाकार पिटे हुए सोने की गुरियाँ मिली हैं। ऐसी ही गुरियाँ मोहे जो दडो मे भी प्राप्त हुई हैं। दोनों स्थानों की गुरियों की शैली एक सी है। यह बतलाना कठिन है कि इस शैलो की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ हुई थी†।

हल्के नीले रग के खडिया पत्थर के एक बर्तन का एक खड मोहे जो दडो मे मिला है। इसपर चटाई की बुनाई का सा चित्रण है। सूसा, किश, फारस तथा टेल आज्मर के बर्तनों पर भी ऐसा चित्रण पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बर्तन मोहें जो दडो में बाहर से आया था। फिर अलडवेद मे भी कुछ ऐसे

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६६४।

† वुल्ली—दि रॉयल सिमीट्री, पृ० ३६६।

वर्तन निकले हैं जो उन्हीं पत्थरों से बने हैं जिनसे कि कुछ भारतीय बर्तन बने हैं* ।

मोहे जो दडो मे प्राप्त एक दूसरे बर्तन से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण तो यही हुआ था, किंतु यह वर्तन किसी प्रकार बाहरी देशों मे चला गया था। फिर इन देशों मे इस वर्तन की शैली मे कई परिवर्तन किए गए थे। इसके बाद यह बर्तन फिर सिंधु प्रांत मे लौटा था† । संगमरमर की बनी इलम तथा सुमेर शैली की अनेक मुद्राएँ मोहे जो दडो मे पाई गई हैं। ये मुद्राएँ भी इन देशों से यहाँ आई रही होंगी।

सिंधु प्रांत तथा सुमेर के निवासी सिर पर नारों को भी बाँधते थे। ये नारे या तो स्वर्ण या रजत की पतली पट्टियों के बनते थे या ये बुने हुए होते थे। मोहे जो दडो मे नारे का प्रयोग स्त्री पुरुष दोनों करते थे।

इनके अतिरिक्त मोहे जो दडो आदर्श की अनेक वस्तुएँ मेसोपोटेमिया मे मिली है, और मेसोपोटेमिया आदर्श की मोहे जो दडो मे। यह अवश्य है कि देशांतरित होने के कारण इनमे कुछ परिवर्तन हो गए हैं। पशुओं के अवयवों से बनी आकृतियाँ दोनों देशों मे थीं। किंतु बेबीलोन तथा सुमेर

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ६३१ ।

† हॉल एंड वुली—अलउवेद, पृ० ४२ ।

मे जो बैल हैं वे दाढ़ीवाले है। मोहें जो दड़ो मे भेड़ के सिरोंवाली आकृतियाँ दाढ़ी से युक्त है। संभवतः दाढ़ी संबधी विश्वासो का स्रोत एक ही था। भैस तथा नीलगाय के सींगों का दोनों देशों मे बराबर महत्त्व था। वुल्ली महोदय का कहना है कि इन देशों मे पाई गई वस्तुएँ आकार मे छोटी है। इनको एक से दूसरे देश मे व्यापारी ही ले गए होंगे। इनसे पता चलता है कि या तो सिधु प्रांत सीधा इन देशों से व्यापार करता था या कोई ऐसा मध्यस्थ केंद्र था जहाँ मोहे जो दड़ो तथा मेसोपोटेमिया के निवासियों का आना जाना रहा करता था। किंतु सिधु प्रात से बाहर के देशों मे यहाँ की कम वस्तुएँ प्राप्त हुई है। इनसे व्यापार की कोई विशेष संभावना नहीं दीख पड़ती है। कुछ विद्वानों की तो यहाँ तक धारणा है कि सुमेर मे कुछ भारतीय एजट रहते थे*।

दूसरी ओर डा० फ्रैंकफोर्ट कहते है कि केवल साधारण आवागमन से ही सभ्यता तथा संस्कृतियों मे अधिक समानताओं का आना संभव नहीं है। ऐसे आवागमन से जातियों के रहन-सहन तथा धार्मिक विश्वासों में एकाएक परिवर्तन नही होता। कतिपय विद्वानों का कथन है कि इन सब देशों की सभ्यताएँ एक ही स्रोत से निकली है और शायद यह स्रोत फरात और नील के बीच कहीं स्थित था।

---

* वुल्ली—दि रॉयल सिमीट्री, पृ० ३९७-९९।

सिंधु प्रात, इलम तथा सुमेर के सवध मे नाल की खुदाइयों से वहुत कुछ जाना जा सकता है। नाल की ऊपरी तहों पर तो हडप्पा तथा मोहें जो दडो आदर्श के वर्तन मिले है, किंतु सबसे नीचे की सतह मे बलूचिस्तान शैली के वर्तन थे। इस प्रकार नाल की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न युगों मे दो देशों के पारस्परिक सवंध पर प्रकाश डालती है।

वलूचिस्तान से भी मोहे जो दडो सबधित था। सर औरियल स्टाइन की १९२७-२८ की खुदाइयो से ज्ञात हुआ है कि वजीरस्तान की पहाड़ियों के मूल पर सिंधु नदी की ओर किसी समय अच्छी वस्तियाँ थीं। सिंधु प्रांत की सभ्यता का किसी समय बलूचिस्तान के पूर्वी प्रदेशों, दक्षिणी भाग तथा डेराजात में वडा प्रभाव था। किंतु वलूचिस्तान के पश्चिम मे सिंधु-सभ्यता नहीं पहुँच सकी थी। इस भाग मे फारस की सभ्यता का प्रभाव था। फारस से प्रभावित सभ्यता के सर्वोत्तम उदाहरण नाल मे पाए गए बर्तन है। नाल तथा सिंधु प्रात की सभ्यताएँ कई वातों मे एक दूसरे से भिन्न है। मोहे जो दडो की गैंतियाँ, दराँतियाँ, छोटे औजारों के फल और कटारें नाल की ऐसी ही वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। नाल मे पीतल तो पाया ही नहीं गया। मातृदेवी तथा वैल के खिलौने भी नाल मे नहीं थे। पूर्वी वलूचिस्तान के बर्तनो पर वही कारीगरी तथा चिह्न है जो मोहे जो दडो के बर्तनों पर है। सुकटागन तथा मोहे जो दड़ो के मिट्टी के बर्तनों मे तो शत-प्रतिशत समानता है। यह

स्थान मक्रान मे है। भारत तथा मक्रान के बंदरगाहों के बीच संभवतः किसी काल मे व्यापार होता था। परस्पर वृत्तों को काटने के चित्रण की शैली मोहें जो दड़ो ही से बलूचिस्तान मे पहुँची थी। क्योंकि मोहें जो दड़ो के अतिरिक्त यह शैली संसार के किसी अन्य देश को ज्ञात न थी। पीपल की पत्तियों के चित्रण की शैली भी बलूचिस्तान-निवासियों ने मोहें जो दड़ो से ही ली थी। मातृदेवी तथा बैलों का धार्मिक महत्व भी बलूचिस्तान-निवासियों ने सिंधु प्रांत से ही सीखा था।

बलूचिस्तान मे मोहें जो दड़ो शैली का एक छिद्रयुक्त बर्तन, एक ताम्र का सिर, तथा आहुति-आधार का एक खंडित भाग प्राप्त हुआ है। शाही टप मे भी पत्थर की एक गोल वृत्ताकार वस्तु मिली है। यह वस्तु भी मोहें जो दड़ो की मुद्राओं के सिरों पर रखी जानेवाली वस्तुओं के सदृश है।

यह आश्चर्य सा है कि मोहें जो दड़ो और हड़प्पा की मृण्मूर्तियों की तरह बलूचिस्तान मे कोई मूर्तियाँ नहीं बनीं। मेही से प्राप्त मूर्तियाँ तो कमर से नीचे एकदम चिपटी कर दी गई है। बलूचिस्तान की मूर्तियों मे हाथ प्रायः वक्षस्थल को छूते दिखलाई देते है, किंतु मोहें जो दड़ो मे हाथ बगल में गिरे रहते हैं। मि० मैके कहते हैं कि सिंधु प्रांत के निवासी कुंभ-कला मे बलूचिस्तान निवासियों से बढ़े चढ़े थे।

आजकल का बलूचिस्तान प्राचीन काल के बलूचिस्तान से भिन्न है। आधुनिक बलूचिस्तान उजाड़ तथा बंजर है, किंतु

| दूसरी वस्तु मोहें जो दड़ो मे मिस्र आदर्श की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की मानव आकृति दाढी वाली है। वह दाएँ पैर को झुकाए और बाएँ घुटने को जमीन पर रखे है। मोहें जो दड़ो की मूर्ति तो मिस्र देश की मूर्ति की प्रतिकृति जान पड़ती है। फिर मिस्र देश मे कुर्सियों के पैर बैलों के पैरों के सदृश थे। बैल के पैरोंवाली कुर्सियों का चित्रण मोहें जो दडो से प्राप्त एक मुद्रा पर भी है। चारों ओर से काटी हुई गुरियाँ भी मोहें जो दडो तथा मिस्र दोनों देशों में प्रचलित थीं। प्राचीन काल मे मिस्रदेश-निवासियों ने इस शैली की गुरियों के बनाने मे बडी कुशलता प्राप्त की थी। मोहें जो दडो की गुरियाँ भी मिस्र ही से आई रही होंगी।

मिस्र तथा सिधु प्रांत के निवासियों मे कई धार्मिक समानताएँ भी थीं। मोहे जो दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक लब के साथ साथ कुछ पशुओं की मूर्तियाँ ले जाई जा रही है। ऐसे ही लंब मिस्र के जलूसों मे फैरोद के आगे भी है। मोहें जो दडो में दो ताँबे की पट्टियों पर तार या धागों की सजावट का चित्रण है। ऐसा चित्रण मिस्र देश के तेरहवें वश की मुद्राओं पर भी दीख पड़ता है। मोहें जो दड़ो के एक मिट्टी के तख्ते पर एक लेटी स्त्री दिखलाई गई है। मिस्र मे भी ऐसे खिलौने बनते थे। वहाँ ऐसे खिलौने शवो के साथ रखे जाते थे।

मक्खियों की शक्ल की कई गुरियाँ हडप्पा मे मिली है। ऐसी गुरियाँ मिस्र, सुमेर तथा सिंधु प्रांत-निवासियों

को ज्ञात थी। ये गुरियाँ तावीजों के लिये प्रयुक्त होती थीं*।

कुछ विद्वानो का मत है कि प्राचीन काल मे भारत से मिस्र को लोहा भेजा जाता था। वास्तव मे सथालों तथा मिस्र देशनिवासियों की औजार बनाने की रीतियों मे बडी समानताएँ हैं†। मिस्र तथा यूनान के साहित्य से ज्ञात होता है कि ये देश पूर्वीय देशो से उट्ज (एक प्रकार की धातु) मँगाते थे।

किंतु ये समानताएँ सिंधु प्रात मे सीधी मिस्र से नही आई होंगी। सुमेर तथा इलम मे मिस्र की सस्कृति का प्रभाव था और यहीं से सिंधु प्रात मे भी मिस्र-संस्कृति का कुछ प्रभाव आया होगा।

मोहे जो दडो की दो मुद्राओं पर यूनानी क्रूशों का चित्रण है। नवीन पाषाण युग का एक क्रूश भी मोहे जो दडो मे मिला है। यूनानी क्रूश इलम मे बहुत पाए गए है। इन क्रूशो पर चौखट भी बनी है। सभवत इस ढग के क्रूशों की उत्पत्ति भी सिंधु प्रात मे ही हुई है।

डा० फाब्री प्रागैतिहासिक युग के यूनान तथा मोहे जो दडो की कुछ धार्मिक पद्धतियो मे समानताएँ देखते हैं‡। क्रीट के

---

* मैकै—फ० य० मो०, पृ० ६४२।

† मित्र—प्रीहिस्टॉरिक इंडिया, पृ० १८४-८५।

‡ आ० स० रि०, १९३४-३५, पृ० ९३-१००।

कतिपय भित्तिचित्रों मे बैलों की लड़ाई के दृश्य दिखलाए गए है। बाद को इस खेल का नाम 'तौरकथपशिया' प्रचलित हो गया था। इन दृश्यों मे मनुष्य कभी बैलों को पकड़ते और कभी उनके ऊपर से होकर कूदते दिखलाए गए है। मोहें जो दड़ो की एक मुद्रा पर भी ऐसा ही दृश्य अंकित है। इन खेलों का विशेष धार्मिक महत्व था। ये खेल मातृदेवी संप्रदाय से संबध रखते थे। क्रीट में सींगों का भी विशेष महत्त्व था। यह बतलाना कठिन है कि इन दोनों देशों मे कैसे ये समानताएँ आईं। यद्यपि भारत मे मातृदेवी की पूजा का इतिहास अति प्राचीन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुद्राओं पर अकित यह दृश्य क्रीट से ही मोहे जो दड़ो मे आया है। प्राचीन काल में क्रीट सप्त समुद्रों से व्यापार करता था। सभवतः क्रीट के कुछ व्यापारी सिधु-प्रांत के बंदरगाहों मे भी आए थे।

पशुओं को एक पंक्ति मे अंकित करने की शैली मोहे जो दड़ो के कुछ तावीजों पर है। इस ढग की चित्रकारी फारस, सूसा तथा मेसोपोटेमिया मे भी प्रचलित थी*।

उरक तथा सिंधु प्रांत के बर्तन भी एक से ही थे। ये बर्तन या तो काले तथा लाल मिश्रित या हल्की नीली मिट्टी के बने है। वुल्ली महोदय का कहना है कि उरक लोग उत्तर से आए थे। उनका एक वर्ग, संभव है, सिंधु प्रांत मे भी आया हो। अपनी

---

* मैके—फ़० य० मो०, पृ० ६५३।

तथा सिंधु प्रात की सभ्यता को मिलाकर इन्होंने उस संस्कृति को जन्म दिया जिसके अवशेष सारे सिंधु प्रात मे मिलते है* ।

प्राचीन काल मे भारत तथा ईरान मे बड़ा घनिष्ठ सबध था। इन देशों मे परस्पर शांतिमय व्यापार होता था। उस काल मे खैबर तथा बोलन के दो प्रसिद्ध दर्रों से ही आवागमन होता रहा होगा। भारत तथा ईरान के बीच का सीमा-देश अरघनक तथा कतरनक नदियों के बीच स्थित था। सभवतः प्रसिद्ध नदी हरवैती भी यहीं पर थी।

प्राचीन भारत मे आवागमन के मार्ग जल और थल दोनों से होकर थे। ये दोनों मार्ग बराबर व्यवहार मे रहे होंगे। मोहे जो दडो के एक बर्तन पर पतवार सहित एक नाव बनी है। ऐसी नावे बडी नदियों मे चला करती रही होंगी† । ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु प्रात के निवासी नौ-विद्या मे निपुण थे। यहाँ के निवासी नदियों के तट पर रहते थे। सुविधा के लिये प्रत्येक सपन्न व्यक्ति अपनी अपनी नावे रखता रहा होगा। मछली मारने तथा व्यापारिक वस्तुओं को ले जाने के लिये भी वे ही नावे प्रयुक्त होती थीं। आज दिन भी सिंधी लोग अच्छे नाविक होते है। उनके यहाँ की बनी हुई नावे कई प्रकार की होती है। इनमे डूँडी, जुंपटिस तथा जोरुक मुख्य हैं।

---

* चाइल्ड—न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एशट ईस्ट, पृ० २२५।

† मैके—इ० सि०, पृ० १७७।

यह ज्ञात नहीं है कि सिंधुप्रांत-निवासियों का सामुद्रिक ज्ञान कैसा था। शंख, सीपी तथा घोंघे (जो अच्छी संख्या मे सिंधु प्रांत मे मिले हैं) के आधार पर कहा जा सकता है कि इस प्रांत के लोग समुद्र से अच्छी तरह परिचित थे। मि० मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमे एक जहाज बना है। इस जहाज मे मस्तूल नहीं है, और इस कारण अनुमान किया जाता है कि यह जहाज किसी नदी मे ही चलता रहा होगा*।

ऋग्वेद के कई स्थलों पर समुद्र का उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

१. वेदा योवीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः।

२. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्। ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः†।

किंतु यह बतलाना कठिन है कि ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था। विद्वानों की धारणा है कि आर्य लोग नदियों ही को समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के किसी भी मंत्र मे इस बात का उल्लेख नहीं है कि वहाँ पतवार और जहाज किसी सामुद्रिक यात्रा के लिये प्रयुक्त होते थे‡। ऋग्वेद के एक मंत्र में

---

* मैके—फ० य० मो०, पृ० ३४०।

† ऋग्वेद १, २५,७· १, ४८, ३।

‡ कैं० हि० इं०, जिल्द १, पृ० १०१।

अवश्य वर्णन है कि कुछ लोगों को जल से थल तक पहुँचने में तीन दिन लगे थे। हमारी धारणा है कि इस मन्त्र के लिखने-वाले व्यक्ति से किसी ने समुद्र-यात्रा का वर्णन किया होगा। कदाचित् इसी के आधार पर उसने ऐसा लिखा हो।

प्राचीन काल में भारत बाहर के कई देशों से व्यापार करता था। डा० सेईस के मतानुसार ई० पू० ३००० में भारत तथा बेबीलोन के बीच व्यापार होता था*। इसके प्रमाण हमें उर से प्राप्त भारतीय 'ऊर्ण' में मिलते हैं। बेबीलोन के कपड़ों की एक सूची में भी 'सिंधु' शब्द मलमल के लिये प्रयुक्त हुआ है। नेबूछेदनेजर (ई० पू० ६०४-५६२) के महल में भारतीय देवदारु की एक कड़ी मिली थी†। बावेरु जातक से ज्ञात होता है कि बेबीलोन को भारत से मोर ले जाए गए थे‡। ब्रिटिश म्यूजियम में प्रदर्शित एक गोल नलिका से ज्ञात होता है कि असीरिया के सम्राट् सेन्नाचेरिब ने निनवेह में भारतीय कपास के पौधे लगाने का प्रयत्न किया था, किंतु उसे अपने उद्योग में सफलता नहीं मिली§।

---

* ज० रॉ० ए० सो०, १८९८, पृ० २४१-८८।

† मुकर्जी—ए हिस्ट्री ऑव इंडियन शिपिंग, पृ० ८७।

‡ जातक—अनूदित, कावेल एंडरूज, पृ० ८३।

§ प्रोसीडिंग्ज ऑव दि सोसाइटी ऑव बिबलियोग्रैफिकल आर्कियो-लॉजी, १९०६, पृ० २२९।

चाल्डिया के कुछ उत्कीर्ण लेखों से भी ज्ञात होता है कि उर नगरी के कई जहाज भारत से सुवर्ण लाते थे। इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल मे उर का भारतीय बंदरगाहों के साथ सबंध था।

अरब इतिहासज्ञों के काल तक सिंधु मे अच्छे अच्छे बंदरगाह थे। किंतु उस समय भी मिट्टी भर जाने के कारण नदियों के मुहाने खराब हो रहे थे। देवाल, तत्था इत्यादि स्थान एक समय सिंधु प्रांत के विख्यात बंदरगाह थे। सन् १८१२ ई० मे निकोलस विरिंगटन ने तत्था के विषय में लिखा था कि 'इडीज मे तत्था के सदृश अन्य कोई बंदरगाह नही है'। ढाई वर्ष बाद टैवरनियर ने इस बदरगाह को बुरी दशा में देखा। ऐतिहासिक युग मे अरब देश के तट पर ऐसे जहाजी थे जो कि इथियोपिया, सिंधु तथा अन्य खाड़ियो के बंदरगाहों से व्यापार करते थे*।

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मोहे जो दडो के वास्तविक निवासी यही के निवासी थे या बाहर से आए थे। हम अभी देख चुके है कि सिंधु-सभ्यता के अवशेषो का अध्ययन करने से इसमे अनेक वैदेशिक तत्त्व दिखलाई देते है। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, मोहे जो दडो की वस्तुओं की एक अपनी विशेषता है। यदि यहाँ लोग बाहर से आए भी थे तो वे

---

* रौलिन्सन—इडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० २।

दीर्घकाल तक यहाँ रहे होंगे। शताब्दियों तक यहाँ रहने के पश्चात् उन्होंने अपनी तथा स्थानीय सभ्यता को मिलाकर एक नवीन सस्कृति की स्थापना की। इसका प्रमाण यहाँ के मिट्टी के वर्तनों पर मिलता है। मोहे जो दडो के पहले के वर्तनों पर विदेशी प्रभाव है, किंतु बाद के वर्तनों मे स्थानीय तथा स्वतन्त्र शैली दीख पडती है।

संभवत: कुछ सिंधी सौदागर किश तथा मूसा मे भी रहते थे। आज कल की ही तरह उन दिनों भी लोग आजीविका के साधन ढूँढने इधर उधर जाते रहे होंगे। बाहर के लोग तो अवश्य ही इस स्वार्थ से सिंधु प्रांत में आते थे। आज दिन भी बलूचिस्तान की ओर से कई कबीले या जत्थे जीविका पाने की आशा मे भारत की ओर आया करते है*।

सिंधु प्रात मे पश्चिम से आने का एक उदाहरण आईबेक्स (आल्प्स पर्वत के जगली बकरे) के चित्रण मे मिलता है। इस पशु का चित्रण मोहे जो दडो और हडप्पा के मिट्टी के वर्तनों और मुद्राओं पर पाया जाता है। चन्हू दडो की एक मुद्रा पर भी इस पशु का चित्रण है। स्मरण रहे कि सिंधु प्रात में यह पशु नहीं पाया जाता था। आईबेक्स सदैव उजाड तथा पथरीली भूमि को पसद करता है। पश्चिम ही से आईबेक्स के चित्रण की शैली सिंधु प्रात मे आई थी†।

---

* चाइल्ड — न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट एशट ईस्ट, पृ० १८५।
† आ० स० मे०, न ४८, पृ० १५२।

सर औरियल-स्टाइन की धारणा ठीक है कि किसी समय बाहर से लोग भारतीय-ईरानी सीमा को पार करते हुए भारत मे आए थे। इस बात की पुष्टि वोगाजकोई के लेखों से भी होती है। वोगाजकोई खत्ती लोगों की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम खत्तूशश था। यह विलायत प्रात के अंकोरा नामक स्थान मे स्थित है*। इस लेख का काल ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दि के मध्य का है। इसमे इंद्र, वरुण तथा नासत्य सहोदरों का उल्लेख है। डा० गाइल्स के अनुसार यह लेख यह प्रमाणित करता है कि आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर आ रहे थे†।

इस प्रकार हम देखते है कि सिंधु प्रात अनेक सभ्यताओं को शरण दे रहा था। यह बात प्रागैतिहासिक युग मे ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक युग मे भी दीख पडती है। सैकडों सभ्यताओं तथा सस्कृतियों ने यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने का यत्न किया किंतु उन्हें भारतीय सभ्यता ने बड़ी सफलता से अपनी सभ्यता मे रँग लिया।

---

* इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १४वाँ सस्करण, जिल्द २, पृ० ५३८।

† कै० हि० इ०, जिल्द १, पृ० ७२।

उपसंहार

एक लंबी गाथा के बाद मन मे प्रश्न उठते है—क्या सच-मुच हम सभ्यता के इतने ऊँचे धरातल पर पहुँचे हुए थे? हृदय कहता है हाँ, किंतु मुँह ऐसा कहने मे सकोच करता है। सिंधु प्रांत की जीर्ण-शीर्ण काया मे प्राचीन युग की वैभव-स्मृति को देखकर एक ओर जहाँ हम गौरव से मस्तक ऊँचा करते है, वहाँ दूसरी ओर हमारे हृदय मे करुणा का स्रोत उमड पड़ता है। इन विशाल नगरो की अपार चहल-पहल, इनके भवनो की गर्वोन्मत्त ऊँची अट्टालिकाएँ, नागरिको की ठहाके की हँसी तथा कार्य-व्यस्तता, सब अतीत की वस्तुएँ हो गई है। अपने यश के दिनो मे सिंधुप्रात-निवासी एक उज्ज्वल तथा सुखमय भविष्य का स्वप्न देखते रहे होंगे, किंतु विधि का विधान, ३०० वर्षों के ही अंदर वह इतिहास की वस्तु बन गया! आज इन भग्नावशेषों मे एक ओर तो सनसन करती हुई वायु के साथ आहें निकलती है, दूसरी ओर भिन्न भिन्न प्रकार के कीट, श्यामकल्याण राग मे, सिंधु प्रात के लुप्त गौरव का गान करते रहते है।

वे यश के दिन थे जब मोहें जो दडो एक विशाल नगरी थी। जीवन को मधुरिमामय बनाने के लिये यहाँ के निवासियो ने अनेक प्रकार की सुविधाओं तथा शिल्पो की सृष्टि की। किंतु

इस ऐश्वर्य की भी आयु थी। ससार में क्या चर क्या अचर, क्या सभ्यता क्या संस्कृति, सभी की एक निश्चित अवधि होती है। इस अवधि की समाप्ति पर सबको नियति के सम्मुख झुकना पड़ता है। इसी को हम होनहार या ईश्वर-प्रेरणा कहते है।

एक युग की समाप्ति के बाद दूसरा युग आया। सिंधु-सभ्यता की समाप्ति के बाद भी भारतीय इतिहास चलता रहा। किंतु खेद है कि अभी तक सिंधु-सभ्यता के युग से लेकर ई० पू० ५०० वर्ष तक के भारतीय इतिहास के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए है। विकास तथा ह्रास की आँधी मे हमारा देश इन शताब्दियो मे कहाँ कहाँ गोते खाता रहा, यह हमे ज्ञात नहीं है। बिहार मे स्थित राजगृह ही एक ऐसा स्थान है जिसके भग्नावशेषों की आयु अति प्राचीन मानी जाती है। राजगृह मे किलेबंदी के तथा दूसरे जो पत्थर है उनपर उत्कीर्ण लिपि इस स्थान की प्राचीनता को सिद्ध करती है।

सिंधु-सभ्यता के सदियों पूर्व भी भारत मे पाषाणयुगीन सभ्यता थी। इस युग के अधिकतर औजार या हथियार दक्षिण भारत मे ही प्राप्त हुए है। कतिपय विद्वानों की धारणा थी कि उत्तरी भारत मे पीतल का युग आया ही नहीं। उनके कथन के अनुसार भारत मे एकदम से ताम्रयुग आ गया था। किंतु भारत मे पीतल का युग अवश्य आया था. यह सिंधु प्रांत की खुदाइयों से प्रमाणित हो गया है। उसके बाद ताम्रयुग आया।

ताम्रयुग की बहुत सी वस्तुएँ हुगली नदी से लेकर बलूचिस्तान तक मिली है। गूँगेरिया, बाँदा, बिजनौर, बिठूर, आदि स्थानों मे ताम्रयुग की महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। अभी इन युगों की वस्तुओं का नियमित रूप से अध्ययन नहीं हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे पुरातत्व विभाग तथा देश की अन्य अन्वेषण-समितियाँ इस ओर ध्यान देंगी।

सिंधु-सभ्यता एक नटी की भाँति कुछ ही क्षणों मे फिर रंगमंच से अंतर्धान हो गई। किंतु उसका प्रभाव दृढ़ तथा अमिट था। इस सभ्यता ने ५००० वर्ष पूर्व जिन प्रणालियों का बीजारोपण किया था उनमे से कई अनवरत रूप से अभी तक चली आ रही हैं। मातृदेवी शिव, लिंग, जल, और वृक्ष की पूजा आज दिन भी प्रचलित है।

चिरकाल से सिंधु प्रांत, पंजाब तथा सीमाप्रांत पर बाहरी देशों की दृष्टि रहती आई है। अपनी क्षुधातृप्ति या साम्राज्य-विस्तार के लिये कई बार यहाँ बाहरी जातियाँ आईं। ऐतिहासिक युग मे डेरियस तथा सिकंदर इस खंड पर शासन करने आए। इन्होंने यहाँ अपने देश की संस्कृतियों को फैलाना चाहा। "भारत ने सहर्ष इन संस्कृतियों का स्वागत किया, किंतु उन्हे सहसा ग्रहण नहीं किया। चारों ओर आकाश को चूमती हुई विशाल पर्वतश्रेणियों तथा अगाध सागरों से घिरा होने के कारण भारत को अपने मोक्ष के साधन ढूँढने का उपयुक्त

अवसर मिला। अलक्षेंद्र से पहले या उसके बाद भी भारतवासियो ने बाहर जाने के बंधनों तथा रुकावटों की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समस्त प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु पश्चिम की किरणों का भी उन्होंने स्वागत किया।"*

भारत की सबसे बडी महत्ता तो यह थी कि उसने अन्य संस्कृतियों को अगीकार कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को और भी विस्तृत तथा व्यापक बनाया।

ऐतिहासिक युग मे भारत का बाहरी देशों पर विशेष प्रभाव पडा। ऐसा शात तथा मृदु प्रभाव संसार के इतिहास मे कम मिलता है। जूलियस सीजर या नेपोलियन की तरह भारत ने संसार को कभी साम्राज्य-विस्तार के लिये विजय नहीं किया। इस देश की ओर आकर्षित होने का कारण यहाँ की उच्च परंपराएँ तथा आदर्श थे, जिनके नायक थे प्राचीन ऋषि-मुनि, बुद्ध, महावीर तथा सम्राट् अशोक। इस देश के ऋषि-मुनियो ने सदैव मानव-कल्याण की शुभ कामना की —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग्भवेत्॥

(अर्थात् सब प्राणी सुखी हो, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई दुःख का भागी न हो।)

---

* गौरागनाथ बनर्जी—हेलिनिज़्म इन एशट इडिया, पृ० ३

बौद्ध काल मे सैकडों विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन के लिये तक्षशिला, विक्रमशिला तथा नालदा के शिक्षा-केंद्रों मे आते थे। हुएनसाग जिसने गोबी के भयकर रेगिस्तान, ताश्कन शान, हिंदूकुश, सिधु, गगा तथा पामीर के पठार की कठिन यात्रा बडे प्रेम से पूरी की, इन्हीं आदर्शों तथा ज्ञान को (जिसको उसने महामति शीलभद्र तथा स्थिरमति से सीखा) सुनकर भारत आया था।

हम इस समय ऐतिहासिक युग का वर्णन कर रहे हैं, किंतु हमारा विचार है कि उस प्रागैतिहासिक युग में भी भारत इसी प्रकार सस्कृतियों का गुरु था। उस काल मे भी भारत ने अन्य जातियों को धर्म तथा नैतिकता का संदेश दिया था। पर यह भी सभव है कि उस काल मे भारत में ज्ञानपिपासा शात करने के लिये कोई न आया रहा हो। बाहर से आनेवाली जातियाँ धनलोलुप थीं और वे सिधु प्रांत मे केवल धनोपार्जन के ध्येय को लेकर आती थीं। किंतु भारत अपने आदर्शों के प्रचार मे तत्पर रहा होगा।

५००० वर्षों के अंदर ससार मे कितना परिवर्तन हो गया है! इस बीच संसार ने क्या क्या देखा? मिस्र, बेबीलोन, रोम तथा यूनान का पतन, इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति, फ्रास की राज्यक्राति आदि। और अब प्रतिदिन हम देख रहे है कि विज्ञान के करतबों द्वारा मनुष्य घुन की तरह पीसे जा रहे हैं। इन ५००० वर्षों में कई सभ्यताओं ने करवटे ली। कई

देश ऊपर उठे, कई धूल मे मिले। कई राष्ट्रों का क्षणिक उत्थान हुआ जिसके कारण उनकी परपराओं के कोई भी चिह्न आज दिन नहीं मिलते। पानी के बुलबुलों की तरह वे ऊपर उठे और शीघ्र ही विलीन हो गए। दूसरी ओर हम देखते है कि सिंधु प्रात की अनेक परंपराएँ आज के भारत मे वर्तमान है। सिधु प्रात की सभ्यता की एक विशिष्ट आत्मा थी। वही आत्मा इन परंपराओं को इन ५००० वर्षों में एक युग से दूसरे युग तक ढकेलती चली आ रही है।

सभवत: कालातर मे सिंधुप्रात-निवासियों के जीवन मे असमानता ने प्रवेश कर लिया था। हम अन्यत्र देख ही चुके है कि मोहें जो दडो मे अधिकतर व्यापारी ही रहते थे। और यदि वहाँ लोग 'गणों' मे संगठित नहीं थे तो पूँजीपतियों का अवश्य वहाँ बोलबाला रहा होगा।

इतने वर्षों के अनतर जब हम सिधु प्रात के निवासियो की कौतूहलजनक कल्पनाओं तथा उनके प्रयोग की वस्तुओ की ओर देखते है ते। कैसी सुखद स्मृतियाँ हृदय मे जागरित होती है! सिधु-सभ्यता को हम परिपक्व रूप मे पाते है। इसका जन्म ते। न जाने कितने हजार वर्ष पहले हो चुका था। आज हम इस सस्कृति और सभ्यता के आचार तथा व्यवहार को ही देखने का यत्न करते है। किंतु हमे इन लोगों का यशोगान नही करना है। संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का कदापि यह अर्थ नही कि हम किसी देश के महत्वपूर्ण तथा वीरोचित

कार्यों की प्रशसा करते फिरे। हमे तो यह देखना चाहिए कि उन लोगों की भावनाएँ तथा कल्पनाएँ किस सीमा तक पहुँची थी, उन लोगों मे आदर्शों का पालन करने की कितनी शक्ति थी और भूगोल और इतिहास का उनके कार्यो तथा सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा था। इन सब बातो की परीक्षा के बाद ही हम इस बात को जान सकते है कि मनुष्य के ज्ञान भडार के लिये उनकी वास्तविक देन क्या है।

इन थोड़े से पृष्ठों मे मैंने मोहे जो दड़ो तथा सिंधु-सभ्यता की कहानी समाप्त की है। किंतु वास्तव मे यह बात नहीं है। संसार मे किसी भी कहानी का अत नहीं होता, दृष्टि से हट-कर ये कहानियाँ मनुष्य के हृदयो मे शाति-पूर्वक वास करती है। यदि ससार इन कहानियो को नही देख सकता तो दूसरी बात है। भूतकाल से भविष्य दृढता के साथ सबद्ध है। जब तक मनुष्य तथा सभ्यता नाम की कोई वस्तु संसार मे रहेगी, इन विशाल नगरो की कहानियाँ चलती जायँगी। भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से लोग इनपर विचार करेगे। फिर भी एक बात मे वे सब एक रहेगे, क्योंकि अनेक परिस्थितियो मे रखे जाने पर भी हम सब हृदय से एक ही है, और वह बात है मनुष्य-उद्यम की पराकाष्ठा तथा जीवन की नश्वरता का विचार। कभी तो उन्हे मनुष्य के उस उद्यम पर गौरव होगा जिसके आधार पर इतनी उच्च सभ्यताएँ खडी हुई, और कभी वे जीवन की निस्सारता पर विचार करने लगेगे। इसी निस्सारता से प्रभावित होकर

प्राचीन ऋषि, मुनि सांसारिक भोग-विलासों को छोडकर भयंकर वनों तथा कदराओं मे तप करने निकले थे और इसी 'मिथ्या' तथा क्षण-भंगुरता पर विचार करने के कारण भगवान् बुद्ध लौकिक ऐश्वर्यों से विरक्त हुए थे। ज्ञानोदय होने पर फिर मनुष्य महाकवि कालिदास के साथ कहेगे—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणा
विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

—रघुवंश ८।८७

अर्थात् विनाश शरीरधारियों का स्वाभाविक धर्म है, बुद्धिमान् लोग जीवन को उस स्वाभाविक धर्म की एक विकृति मात्र कहते हैं—

और

एकातविध्वसिषु मद्विधाना,
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।

—रघुवश २।५७

अर्थात् जितने भौतिक पिंड है वे अंततोगत्वा अवश्य नाश को प्राप्त हो जाते है, इसलिये बुद्धिमान् उनके प्रति अधिक आस्था नहीं रखते। केवल यशःशरीर ही इस लोक मे शेष रह जाता है।

संसार मे दो दिन कोलाहल मचाकर मिट्टी के पुतले मनुष्य मिट्टी ही मे मिल जाते हैं। रह जाती है केवल स्मृतियाँ। भविष्य के लोग फिर उनके कार्यों की निंदा या प्रशंसा करते फिरते है।

किंतु उन्होंने भी मानव जीवन की लघुता तथा विशालता का रसास्वादन किया था। वे सब हमारे ही जैसे साधारण पुरुष थे—देवपुरुष नहीं। इस कारण भविष्य के मनुष्यों का इन अस्तंगत सभ्यताओं के लोगों के प्रति सदैव सहानुभूति का दृष्टिकोण होगा। जिस प्रकार एक कुशल गवैया टूटी वीणा के टूटे तारों को देखकर उनसे एक बार निकली हुई कोमल स्वरलहरियों की याद करता है, उसी प्रकार भविष्य के लोग भी सिंधु-सभ्यता के अवशेषों को देखकर उस स्वर्णमय युग का अनुमान कर लेंगे और फिर मेरी कोलरिज के साथ कहेंगे—

"महान् मिस्र देश चूर चूर होकर विस्मृति के गर्त्त में विलीन हो गया है। यूनान, ट्राय नगर, रोम की महत्ता, वेनिस का गौरव सब मिट्टी में मिल गए हैं। शेष रह गए हैं केवल वे धूमिल, क्षणिक भ्रांतिपूर्ण स्वप्न जो इन महान् देशों की संतानों को दिखाई पड़ते हैं।"*

---

* Egypt's might is tumbled down
Down adown the deeps of thought,
Greece is fallen and Troy town,
Glorious Rome hath lost her crown,
Venice's pride is nought
But the dreams their Children dream
Fleeting unsubstantial, vain,
Shadowy as the shadows seemed,
Airy nothing, as they deemed,
These remain

—Mary Colridge.